What follows is a transcription of the Hindi text of **'Shri Shankaracharya Upadeshamrita'** - a collection of 108 quotations of Shankaracharya Swami Brahmananda Saraswati (1871-1953

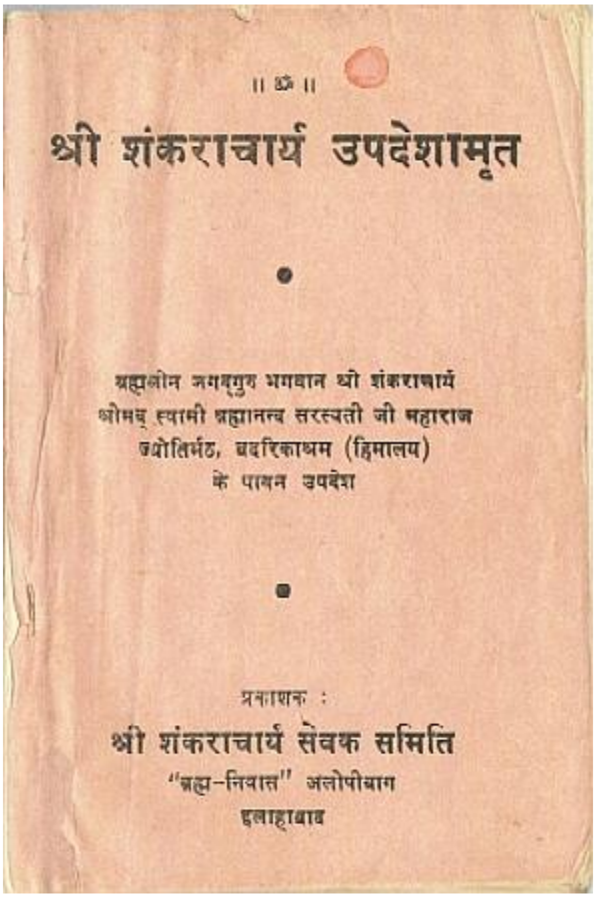

॥ ॐ ॥

श्री शंकराचार्य उपदेशामृत

*

ब्रह्मलीन जगद्‌गुरु भगवान श्री शंकराचार्‌य

श्रीमद्‌ स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज

ज्योतिर्मठ, बदरिकाश्रम (हिमालय)

के पावन उपदेश

*

प्रकाशक् :

श्री शंकराचार्य सेवक समिति

"ब्रह्म - निवास् " अलोपीबाग

इलाहाबाद

ॐ

श्री शंकराचार्य उपदेशामृत

ब्रह्मलीन जगद्‌गुरु भगवान् शंकरचार्‌य

श्रीमद्‌ स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज

ज्योतिर्मठ, बदरिकाश्रम

के उपदेश

संकलनकर्ता -

श्री रामेश्वर प्रसाद तिवारी

दारागंज, प्रयाग

प्रकाशक

श्री शंकराचार्य सेवक समिति

"**ब्रह्म - निवास** " **अलोपीबाग, इलाहाबाद**

मूल्य २)

प्राक्कथन

पूज्यपाद महाराज श्री के उपदेशों का संग्रह पुस्तकाकार में प्राप्तकरने की तीव्र उत्कण्ठा भक्तजनों के मन में बहुत दिनों से बनी रही। आस्तिक जनता भी प्रतीक्षा कर रही थी कि जिस महापुरुष के द्वारा विगत बहुत वर्षों से लुप्तप्राय उत्तराम्नाय ज्योतिष्पीठ का पुनरुद्धार हुआ है, उनके दिव्योपदेश किस दिन स्वाध्याय के लिये सुलभ हो सकेंगे। अतः सब भक्तों एवं आस्तिक जनों की पवित्र भावनाओं का साकार रूप "श्री शंकराचार्य उपदेशामृत" रूप में संग्रहीत किया गया है।

हमें पूर्ण आहा है कि भक्तगण एवं जन - समाज इस उपदेशरूपी दिव्यवाणी का पावन प्रसाद प्राप्त कर अपने मानव - जीवन को सफल बनायेंगे।

शुभेच्छु -

शन्तानन्द सरस्वती

वर्तमान जगद्गुरु शंकराचार्य, ज्योतिर्मठ

बदरिकाश्रम (हिमालय)

प्रस्तावना

भगवद् पूज्यपाद श्रीमद् आद्य शंकराचार्य को ऐसा कौन व्यक्ति है जो न जानता हो। आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व दक्षिण भारत के केरल प्रान्त में आपका आविर्भाव ऐसे समय में हुआ, जब वैदिक धर्म परम्परा उछिछन्न हो रही थी और धार्मिकता सदा के लिए बिलीन हो रही थी। उस समय आपने भूली हुई जनता को सत्य के मार्ग पर लगाया और वैदिक धर्म की रक्षा की। भविष्य में भी वैदिक धर्म की रक्षा के लिए आपने भारत की चारों दिशाओं में चार धर्मपीठ स्थापित किये - उत्तर में "ज्योतिर्मठ ", दक्षिण में "शृंगेरी मठ ", पूर्व में "गोवर्धन मठ " और पश्चिम में "शारदा मठ " और आदेश दिया कि इन मठों में सदैव एक के बाद दूसरे धर्माअचार्य शंकराचार्य पद पर सुशोभित होते रहेंगे और भारत में धर्म की रक्षा करते रहेंगे।

किन्तु इधर १६५ वर्ष से उत्तर के 'ज्योतिर्मठ' में कोई धर्माचार्य नहीं हुये। ज्योतिर्मठ का नाम तो बना रहा ; किन्तु उसके स्थान एवं उसके चिह्न आदि सर्वथा नष्ट हो गये। इतने अधिक समय तक पीठ उच्छिन्न रहने के कारण उत्तर भारत की धार्मिक जनता में क्षोभ उत्पन्न हुआ। विद्वानों और धर्मपरायण व्यक्तियों ने विचार किया कि किसी प्रकार इस पीठ का पुनरुद्धार किया जाय। यह काम भारत धर्म - महा - मण्डल ने अपने ऊपर लिया और ज्योतिर्मठ के उपयुक्त सुयोग्य महात्मा की खोज की जाने लगी। प्रयास में सफलता मिली और अनन्त श्री विभूषित स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज को सब प्रकार से सुयोग्य और समर्थ जानकर उन्हें शङ्कराचार्य के पद पर सन् १९४१ में अभिषिक्त किया और उन्हीं पर पीठ के पुनरुद्धार का महान् कार्य सौंपा गया।

श्रीमद् आद्य शङ्कराचार्य के आविर्भाव के समय के ही समान यह समय भी कठिन समय था। सामान्य जनता धर्म - विमुख हो रही थी और जनता में धार्मित भावना लुप्त सी हो गई थी। महाराज श्री ने स्थान - स्थान पर जाकर वैद्किक धर्म का प्रचार किया और जन साधारण में धर्मिक जाग्रति उन्पन्न की।

ऐसा आदेश और उपदेश दिया कि सभी लोग सामान्य जीवन निर्वाह करते हुए किस प्रकार धर्मपरायण बन सकते हैं। आपके उपदेश

सरल, मार्मिक्, आकर्षक, हृदयग्राही और मधुर थे। उनमें विलक्षणता थी, क्योंकि वे महाराज श्री के अनुभूत सिद्धन्त थे। आपकी शिक्षा - दीक्षा सभी को सरल, प्रिय और ग्राह्य मालूम पड़ी, इसलिए लाकों कीं संख्या में लोग आपके अनुयायी बन गये।

आपके उपदेशों में ऐसी सम्मोहिनी शक्ति थी कि जहाँ भी आपका भाषण होता, काखों की संख्या में लोग सुनने के लिए एकत्र हो जाते। क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या विद्वान्, क्या गँवार, क्या धनी - मानी, क्या निर्धन - सभी दौड़ पड़ते और उपदेश सुनकर ऐसा अनुभव करने लगते कि महाराज श्री बोलते ही रहै और हम उनकी अमृतवानी का पान करते रहें। प्रायः ऐसा देखा जाता था कि उपदेश के समय भीड़ में जहाँ - तहाँ वैठे हुए कुछ व्यक्ति आपके उपदेशामृत नोट करते रहते थे, क्योंकि वे दिव्य शब्द फिर सुनने को नहीं मिलेंगे। उपदेशों की माँग इतनी आधक बढ़ी कि भक्तों को एक दैनिक समाचार - पत्र प्रकाशित करना पड़ा, जकका नाम था "श्री शंकराचार्य उपदेश "। हजारों कि संख्या में इसकी प्रतियाँ छपतीं और शीघ्र ही बिक जाती थीं। बड़ी श्रद्धा और भक्ति से लोग उन्हें खरीदते और पढ़ते थे। खेद है कि आज वह अमृतवाणी दुर्लभ हो गयी।

इसलिए संकल्प हुआ है कि जहाँ से हो सके महाराज श्री के उपदेशों का संग्रह किया जाय और उन्हें पुर्स्तकाकार करके सुरक्षित कर लिया जाय। अतः यह पुस्तक उन्हीं उपदेशों का संग्रह है। आशा है, धार्मिक जनता तथा भक्तगण इसे अपनायेंगे और अपने पूर्व परिचित

महाराज श्री की अमृतवाणी का आनन्द लेत हुए अपना मानव जीवन कृतार्थ करेंगे।

रामेश्वर प्रसाद तिवारी

अनुक्रमणिका

क्र० सं० पृष्ठ

१. जो सुखी है वही दूसरे को सुखी बना सकता है। १

२. संसार में आये हो - ऐसी चातुरी से काम लो कि मल - मूत्र के भाँड में न आना पड़े। २

३. मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। ५

४. उदर - पोषण में ही चातुरी समाप्त मत कर दो। ७

५. वासनाओं की पूर्ति के पीछे मत पड़ो। ९

६. जो भाग्य में है वह आयेगा अवश्य। १०

७. मनुष्य का शरीर मिला है, इसे व्यर्थ मत जाने दो। १२

८. कर्म से भी मोक्ष सम्भव है। १४

९. जीना उन्हीं का सार्थक है जो जीकर कुछ आगे के लियै बनायें। १६

१०. मृत्युकाल की पीड़ा। १८

११. अन्त न बिगड़ने पाये। १९

१२. जिसका वियोग निश्चितहै उनको सुख का साधन बनाना भारी भूल। २०

१३. शत्रु - मित्र से सम्भाव रखो। २६

१४. दुष्कर्म हो जाय तो कह दो - सत्कर्म करो तो छिपाओ। २८

१५. ऐसा नहीं कि पाप करते जाओ, भगवान् को भजते जाओ। २९

१६. भगवान् की सेवा करना चाहते हो तो हनुमान जी का आदर्श पालन करो। ३०

१७. शक्ति का अपव्यय और बुद्धि का दुरुपयोग न करो। ३२

१८. जैसा देव वैसी पूजा। ३३

१९. झूठे आदमी को कभी शान्ति नहीं मिल सकती, चाहे वह कुवेर के

समान धनवान हो जाय। ३४

२०. दूसरे में नहीं, अपने में दोष देखो। ३९

२१. संसार प्रेम का पात्र नहीं, उसमें मन को फर्साओगे तो धोखा खोओगे। ३७

२२. पुरस्त्कार के योग्य पुरस्कार और तिरस्कार के योग्य का तिरस्कार करो। ३८

२३. जो आया है सो जायगा। ४०

२४. भगवान् के भजन में लाभ ही लाभ है। ४१

२५. परमात्मा विश्वम्भर है। ४३

२६. जितने दिन जीना है शन्ति से जियो। ४४

२७. शक्ति प्राप्त करो। ४५

२८. साकार - निराकार के झगड़े में न पड़ो। ४७

२९. जैस काछो वैसा नाचो। ४८

३०. प्रेम परमात्मा में और प्रेम की छाया संसार में रखो। ५०

३१. देवत्व से मनुष्यत्व श्रेष्ठ है। ५१

३२. उसकी चिन्ता करो जो सब चिन्ताओं से मुक्त कर सकता है। ५३

३३. जिसे भले - बरे का न्याय करना है वह तुम्हारे सब कार्यों को देख रहा है। ५४

३४. चार वृत्तियों में ही रहो, लोक - परलोक दोनों बनेगा। ५६

३५. सिध्यियों के चक्कर में ठगाये मत जाओ। ५७

३६. जीव - ब्रह्म की एकता। ६१

३७. तृष्णा के त्याग और ईश्वराराधन से ही सुख सम्भव। ६९

३८. योजनायें बना - बनाकर अपने जीवन को उलझन में न डालो। ६५

३९. भगवान का अवतार किस लिए होता है। ६७

४०. मन के थोड़े सहयोग से ही व्यवहार चल सकता है। ६८

४१. लोक - परलोक में सर्वत्र सुख शान्ति चाहते हो तो सर्वशक्तिमान परमात्मा की शरण लो। ७२

४२. मन को संसार में कोई नहीं चाहता। ७५

४३. पतन से बचना चाहते हो तो पाप से बचो और पुण्य को बढ़ाओ। ७८

४४. मन को संसार में लगाओ, पर इतना ही कि परमार्थ न बिगड़े ७९

४५. भगवान का भक्त कभी दुखी नहीं रह सकता। ८०

४६. कुटुम्बयों की अश्रद्धा होने के पहिले ही भगवान् की ओर झुक जाओ। ८१

४७. भगवान की प्रतिज्ञा अपने भक्तों के लिए - " मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ। ८२

४८. रात्रि में सोने से पहिले कुछ जप और ध्यान अवश्य करें। ८४

४९. इन्द्रियों के भोग - विलास में जो निमग्न रहता है वह किसी काम का नहीं रह जाता। ८५

५०. मन की प्रवृत्ति जिधर होती है वह स्वयं रास्ता निकाल लेता है। ८६

५१. राग ही सर्वानर्थ का मूल। ८७

५२. विघ्नों के भय से मार्ग नहीं छोड़ना चाहिये। ८८

५३. प्रबृत्ति को अशुभ से रोक कर शुभ में लगाना - यही मुख्य पुरुषार्थ है।

५४. परमात्त्मा से विमुख हो रहे हो - इसी से नाना प्रकार की विपत्तियाँ आ रही हैं। ९१

५५ . प्रारब्ध से पुरुषार्थ बलवान है। ९३

५६. त्यागी और उदार तो बहुत हैं - हो सके तो रागी और कृपण बनने का प्रयत्न करो। ९५

५७. एक भगवान् को मजबूती से पकड़ो तो अनेक की खुशामद नहीं करनी पड़ेगी। ९६

५८. संसार जैसा है वैसा ही पड़ा रहेगा - जब तक यहाँ हो अपना काम बना लो। ९८

(८)

५९. मनुष्य-जन्म दुर्लभ है, इसे सार्थक बनाओ। ९९

६०. शक्ति चाहते हो तो शक्ति के केन्द्र से सम्बन्ध जोड़ो। १०१

६१. जिनके लिए हाव - हाव करके मारे - मारे फिरते हो वे ही जबाब देते हैं। १०२

६२. हाली में गाली व रंग - गुलाल क्यों। १०४

६३. महाअसुर हिरण्यकश्यपु के पुत्र प्रहलाद क्यों भक्त उत्पन्न हुये। १०६

६४. दीन बन कर दीनदयालु की दयालुता का लाभ उठाओ। १११

६५. स्वधर्म पालन और भगवान का स्मरण सदा करते रहो। ११३

६६. भगवचिन्तन और आहार शुद्धि। ११६

६७. गर्भवास में फिर न आना पड़े तभो मनुष्य जन्म सार्थक। ११८

६८. सर्बत्र भगवान का भाव ही भक्तों का लक्षण। १२२

६९. गुरु बदलने में कोई पाप नहीं होता। १२४

७०. जगत भर का ज्ञान प्राप्त कर लो, पर यदि अपने को न ज्ञान पाए तो अज्ञानी ही रहोगे। १२५

७१. तुम तो सच्चिदाननद स्वरूप परमात्मा के अंश हो - अपने को भूलकार ही दुखसागर में डूब रहे हो। १२६

७२. भगवान का नाम जपो, परन्तु विधि के साथ। १२८

७३. ॐकार की जप - स्त्रियों के लिए उसका निषेध। १२९

७४. क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्री जाति के लिए गुरुत्व नहीं। १३२

७५. स्त्री - समाज का केवल पति - परायण ही रहकर कल्याण। १३४

७६. भगवान् के आज्ञारूप वेद - शास्त्र के अनुसार चलिए। १३६

७७. सदगुरु किसे कहते हैं। १३७

७८. जगदगुरु किसे कहते हैं। १४२

७९. सत्संग की बातों को मनन करना आवश्यक। १४५

८०. घर में रहते हुये महात्मा बनो। १४७

८१. धन - संग्रह से अधिक प्रयत्न बुद्धि शुद्ध करने के लिए करो। १४९

८२. बिना ज्ञान के न भक्ति ही हो सकती है और न मोक्ष ही। १४९

८३. अच्छे कार्यों को जल्दी करो। १५२

८४. भगवान से लाभ उठाना चाहते हो तो उपासना करके उन्हें एक - देश में प्रकट करो। १५३

८५. सुख चाहते हो तो सुख - सागर की ओर चलो। १५४

८६. भगवान का भजन अवश्य करो - मन लगे या न लगे। १५६

८७. ज्ञान से भगवान के दर्शन का भाव ठीक है - या प्रत्यक्ष दर्शन। १५७

८८. भक्ति और ज्ञान - निराकार और साकार - के झगडे में न पड़ो। १५८

८९. अपने किये का फल तो भोगना ही पड़ेगा। १६६

९०. जैसा मन हो वैसा ही कहो और वैसा ही करो। १६७

९१. मन को संसार में अधिक न फँसाकर भगवान की तरफ लगाओ। १६९

९२. भगवान के पास पहुँचना है तो उनके नाम का सहारा लो। १७३

९३. दुःख की प्रातिभासिक सत्ता है, वास्तविक नहीं। १७५

९४. संसार शोक - सागर ही है, आत्मज्ञानी ही उसे पार कर सकता है। १८१

९५. भवसागर से पार होने का प्रयत्न करो। नौकारूढ़ होकर डूब गये तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होगा। १८३

९६. सिवाय परमात्मा के कोई सहायक नहीं। १८७

९७. जाति - पांति कल्याण कारक नहीं - भगवान् के भजन और स्वधर्म पालन से कल्याण होगा। १८९

९८. दुर्जन के लिए दुर्जन बनना और निन्दक के लिये स्वयं निन्दक बन जाना उचित नहीं। १९१

९९. त्याग और ग्रहण से मुक्त होकर स्वरूपानन्द में निमग्न हो रही। १९४

१००. अविवेक से मनुष्य बहुत कष्ट उठाते हैं। १९७

१०१. स्वार्थ प्रबल है। १९९

१०२. भौतिकवाद सुख - शान्ति देने में समर्थ नहीं। २००

१०३. उदर - पोषण के लिए अपने भाग्य पर विश्वास रखो। २०२

१०४. जितना हो सके शुभ कार्यों का सम्पादन करो। २०४

१०५. सतर्क रह कर जीवन का सदुपयोग करो। २०८

१०६. विचार पूर्वक प्रवृत्ति बनाने से ही मन स्मार्ग की ओर जाता। २११

१०७. जो अपना लक्ष्य भूल गया, वह पथ - भ्रष्ट हो ही जायगा। २१४

१०८. जों भगवान की ओर झुका है उसे किसी वस्तु की कभी नहीं। २१६

- : ० : -

मुद्रक : देव भारती प्रेस, १०, दरभंगा कालोनी,
इलाहाबाद - - २११००२।

श्री शंकराचार्य उपदेशामृत

ज्योतिष्पीठोद्धारक

ज्योतिष्पीठोद्धारक

ब्रह्मलीन जगद्गुरु भगवान् शंकराचार्य
श्रीमद् स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज
ज्योतिर्मठ, बदरिकाश्रम (हिमालय)

ब्रह्मलीन जगद्‌गुरु भगवान् शंकराचार्य
श्रीमद् स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज
ज्योतिर्मठ, बदरिकाश्रम (हिमालय)

* वन्दना *

वन्देऽहंं यतिराजराजरमणं योगीन्द्रचक्रायुधम्।

चातुर्वर्ग्यफलप्रदं सुविहितं मोक्षच्छटाच्छादितम्॥

योगानन्दतरंगतानतननं त्रैलोक्यनाथं शिवम्।

ब्रह्मानन्दसरस्वतिं गुरुवरं ज्योतिर्मठाधीश्वरम्॥

*

१

जो सुखी है वही दूसरे को सुखी बना सकता है

*

परमात्मा के सम्पर्क में ही जीव वास्तविक सुखी हो सकता है क्योंकि उसी में सुख की पराकाष्ठा है

जिसके पास जो कुछ होता है, वही वह दूसरों को दे सकता है। किसी कंगाल से कोई धन की याचना करे तो मूर्खता ही तो है। जिस प्रकार धन की राशि से ही धन प्राप्त किया जा सकता है,
विद्यानिधि (विद्वान्) से ही विद्या की प्राप्ति हो सकती है, उसी प्रकार सुखराशि जो भगवान् हैं, उन्हीं से सुख की प्राप्ति हो सकती है।

संसार में भगवान् के कृपापात्र भक्तों को छोड़ कर कोई भी सुखी नहीं है। आध्यात्मनिष्ठ परमात्मा के भक्त ही यहाँ सुख का अनुभव करते हैं अन्यथा सभी को कुछ न कुछ दुःख धेरे ही रहता है। संसार में कोई सुखी नहीं देखा जाता। जिसके पास जो वस्तु नहीं होती वह दूसरे को उसके द्वारा सुखी मानता है। किन्तु जिसके पास वह है, उसको देखा

जाय तो उससे वह अपने को सुखी नहीं मानता। जिसके पुत्र नहीं है वह पुत्रवालों को सुखी मानता है, पर पुत्र से कितना सुख है, यह किसी पुत्रवान से पूछो। मालूम होता है, वास्तव में किसी भी लौकिक - पदार्थ में सुख नहीं है। सुखस्वरूप तो सच्चिदानन्द - रूप परमात्मा ही है और उसी के सम्पर्क में आने से जीव भी सुखी हो सकता है और सुखी होने का दूसरा मार्ग नहीं है। परमात्मा ही ऐसा 'जनरल मर्चेन्ट' है जिसके यहाँ सुख की किसी भी सामग्री का अभाव नहीं होता। किन्तु उसकी कृपा प्राप्त करने के लिये विधिवत् प्रयत्न करना पड़ेगा, केवल परमात्मा का माहात्म्य पाठ करने से कुछ होगा नहीं। बीजक का पाठ करते रहो तो क्या धनी हो सकते हो?

संसारियों से सुख प्राप्ति को इच्छा करना भूल है। भला जो स्वयं दुखी है वह दूसरे को सुखी क्या बनायेगा? संसार में जो सुख दिखता है वह सब सापेक्ष सुख है। किसी से कोई किसी अंश में सुखी है तो कोई अन्य किसी अंश में।

किसी से सुख की याचना करनी ही है तो ऐसी जगह के याचक बनो, जहाँ से सर्व सुख प्राप्त हो सके। स्मरण रखो कि जो परमात्मा की तरफ झुका है वही संसार में सुख - शान्ति प्राप्त कर सकता है, दूसरा नहीं। संसार में सुख ढूँढ़ना

ऐसा है जैसा कि प्यास बुझाने के लिए ओस की बूँदों का संग्रह करना।

२

संसार में आये हो - ऐसी चातुरी से काम लो कि फिर लौट कर मल - मूत्र के भांड में न आना पड़े

*

भगवान् की कृपा से ही यह पल्लेदारी छूट सकती है।

जीवन जाने कितने जन्मों से पल्लेदारी करता चला आ रहा है - कभी हाथी का पचास मन का शरीर, कभी चींटी का आधीरत्ती का शरीर, कभी मनुष्य का शरीर, कभी किसी का शरीर - यह जो ढोना पड़ रहा है वह पल्लेदारी भगवान् की कृपा से ही छूट सकती है।

ऐसा करो कि इसी जीवन में भगवान् की कृपा प्राप्त हो जाय और मल - मूत्र के शरीर में फिर न आना पड़े। यह तभी होगा जब कि भगवान् की आज्ञाओं का पालन करोगे। वेद शास्त्र का आदेश ही भगवान् की आज्ञा है।

जिस वर्ण में हो और जिस आश्रम में हो, उसी के

अनुसार स्वधर्म पालन करो और हर समय भगवान् का स्मरण करते रहो।

प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल नियमपूर्वक उपासना करो और अपनी व्यावहारिक व्यवस्था ऐसी रखो कि जहां तक हो सके अपने से दूसरों की भलाई ही हो और यदि किसी की भलाई ही हो और यदि किसी की भलाई न हो सके तो कम बुराई न होने पाये।

भगवान् को सर्वत्र उपस्थित देखना बहुत आवश्यक है। सर्वत्र भगवान् को उपस्थित देखोगे तो कोई पाप नहीं होगा। पहले जो पाप हो गया वह तो नष्ट हो जायगा, पर जब से भगवान् के नाम को अपनाओ तब से पाप से बचो, नहीं तो उन पापों का छुटकारा कठिनाई से होगा। क्योंकि पहले के किये हुये पाप तो गंगास्नान से नष्ट हो जाते हैं ; परन्तु गंगा में, तीर्थ में जो पाप करता है वह 'बज्र लेपो भविष्यति' अर्थात् वह पत्थर की लकीर के समान हो जाता है जो छुटाया नहीं छूटता। इसलिये भगवान् का स्मरण करते समय पाप करने से डरो।

स्वधर्म - पालन पूर्धक भगवान् का भजन करोगे तो पिछले सब जन्म - जन्मान्तरों के पाप कट जायेंगे और सुख - शान्ति का अनुभव करते हुए अन्त में भी सद्गति होगी।

X X X

३

मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है

परन्तु फल भोगने में परतंत्र

*

इसलिये ऐसे ही कर्म करो जिसका फल उत्तम हो

चोरी करने में चोर स्वतंत्र है परन्तु फल तो न्यायालय के अधीन है, जितनी सजा दी जायगी उसको भोगना ही पड़ेगा - चाहे इच्छा हो या न हो। मनुष्य जैसा चाहे वेसा कर्म कर सकता है। पुष्य कर्मों को करके स्वर्गादि लोकों में जाकर दिव्य भोगों को भोग सकता है या पाप कर्म करके रौरव आदि महा भयंकर दुःखदायी नरक को प्राप्त हो सकत है।

मनुष्य - योनि कर्म - योनि मानी गई है। यहाँ मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है अर्थात् वह जैसा कर्म करना चाहे कर सकता है। मनुष्य चाहे तो साक्षात् सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्द परमात्मा से मिल सकता है।

मनुष्य जो कर्म करता है उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। कोई कर्म मनुष्य कर ले और चाहे कि उसका फल न भोगना पड़े तो ऐसा नहीं हो सकता। हां, यह अवश्य है कि -

'**धर्मेण पापमपनुदति**'

धर्म करने से पाप नष्ट होता है। तो यदि किसी से कभी

कोई पाप - कर्म हो गया हो तो उसे चाहिये कि उसको नष्ट करने के लिये पुण्य कार्य करे। पुण्य बढ जायगा तो पाप दब जायगा। इसीलिये कहा गया है -

'**जपतो नास्तिपातकम्**'

भगवन्नाम मंत्र का जप करने से पाप नष्ट होता है। इसलिए यदि किसी के द्वारा अभी तक अविहिताचरण और पाप - कर्म अधिक हुये हैं और वह उन समस्त पापों से छुटकारा पाना चाहता है तो पुण्य - कर्म (शुभ - कर्म) करने लग जाय और श्रद्धा - भक्ति पूर्वक अपने योग्य (उपयुक्त) भगवान् के नाम(मन्त्र) का जप करने लग जाय। ऐसा करने से धीरे - धीरे पिछले पाप नष्ट हो जायँगे और कुछ समय में वह गढ़ा पूरा होकर आगे के लिये शुभ फल संचित होने लगेगा और उसी के सहारे सद्गति हो जायगी।

अनिच्छा से भी यदि भगवान् का स्मरण किया जाय तो उससे पापों का नाश होता है। जैसे बिना इच्छा के भी यदि अग्नि छू जाय तो वह जला देती है। तात्पर्य यह कि जैसे अग्नि का स्वभाव है कि जो संपर्क में आये उसे जला दे, इसी प्रकार भगवान् का स्वभाव है कि जिसने उनका स्मरण किया उसके पापों को वे नष्ट कर देते हैं।

जन्म - जन्मान्तरों का बिगड़ा हुआ मन है, इसलिये भगवान् के प्रति प्रेम बनाने में तो कठिनाई है पर मलिन व

दूषित मन से भी यदि भगवान् का चिन्तन किया जायगा तो भी भगवान् की कृपा प्राप्त होगी।

इसमें एक बात यह समझने की है कि मन पहले का चाहे जितना दूषित हो, पहले का चाहे जितना दुराचारी व पापाचारी हो, उसकी परवाह नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है कि भगवान् के नाम की पापनाशनी शक्ति के बल पर पाप करते रहो।

X X X

४

उदर पोषण में ही सारी चातुरी समाप्त मत कर दो

सब से चतुर वही है जो भगवान् की उपासना करता है

*

भजन करने से कोई बच नहीं सकता। भगवान को नहीं भजोगे तो राजा, रईस, सेठ, साहूकारों को भजना पड़ेगा

आजकल लोग अपने को बड़ा बुद्धिमान समझते हैं। पर उनकी सारी चातुरी पेट के आसपास ही रहती है। उदर में ही उनकी सारी चातुरी समाप्त हो जाती है। पेट के आगे बुद्धि ही नहीं जाती। वे उदर रूपी फोड़े की मलहम - पट्टी करने

में ही सारा समय लगा देते हैं और इसी में सारा जीवन नष्ट कर देते हैं। वास्तव में, इससे अधिक घाटा मनुष्य जीवन में और दूसरा नहीं हो सकता।

भजन तो करना ही पड़ेगा। भजन करने से कोई बच नहीं सकता। 'सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुसमर्थ' भगवान को नहीं भजोगे तो विषयी - पामर, राजा, रईस, सेठ साहूकारों को

भजना पड़ेगा। किसी बड़े का सहारा नहीं लोगे तो छोटों का सहारा लेना पड़ेगा। इसलिए वृद्धिमानी इसी में है कि परमात्मा का सहारा लिया जाय जो लोक - परलोक दोनों जगह काम दे। मनुष्य चाहे जितना भी ऐश्वर्य सम्पन्न हो जाय पर फिर भी उसका ऐश्वर्य सीमित ही रहेगा और कभी भी प्रारब्ध बदलने पर्, वह दीन हो सकता है। इसलिए जिसकी स्वयं की स्थिति निश्चित नहीं उसका सहारा लेकर घोखा ही तो उठाना होगा। सबसे चतुर वही है जो परमात्मा का भजन करता है, वह लोक - परलोक में सर्बत्र सुखी रहता है।

X X X

(९)

ॐ

वासनाओं को पूरा करने के पीछे मत पड़ो

*

शरीर यात्रा के लिये आवश्यक कर्मों को करते हुए

मुख्य ध्यान परमात्मा की प्राप्ति में रखो

भगवान् विष्णु जिनके पुत्र रूप में आये और देवराज इन्द्र जिन्हें अपना अर्द्धासन देता था ऐसे समर्थ शक्तिशाली चक्रवर्ती नरेन्द्र दशारथ भी अपनी सारी वासनायें पूरी न कर सके - राम के

राज्याभिषेक की वासना लिये हुए बैल के समान करण पीट - पीट कर उनकी मृत्यु हुई। जब इस प्रकार सामर्थ्यशाली पुरुषों की ही सब आशायें और वासनायें पूरी नहीं हुई, तब आप लोग अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं की तृप्ति की आशा स्वप्न में भी मत रखो - जाग्रत अवस्था की तो बात ही क्या।

परमार्थ और व्यवहार दोनों साथ - साथ ही चलते हैं, क्योंकि स्वरूप से कर्मों का त्याग नही किया जा सकता। कर्मों के त्याग करने पर मनुश्य की शरीर - यात्रा भी सम्भव नहीं हो सकती। परन्तु इतना ध्यान अवश्य ही रखना चाहिये कि शरीर - यात्र के लिये आवश्यक कर्मों को छोड़कर शेष वासनाओम् को पूरा करने के पीछे न पड़ जाओ। संसार में

(१०)

बड़े से बड़े शक्तिशाली मनुष्य हुए परन्तु उनकी भी सम्पूर्ण वासनायें पूर्ण न हो सकीं। इसलिये शरीर यात्रा के लिये आवश्यक कर्मों को करते हुए मुख्य ध्यान परमात्मा की प्राप्ति में लगाओ।

विषयों को भोगकर इन्द्रियों को तृप्त करने की बात सोचना ऐसा ही है जैसे खुजलाकर खाज को अच्छा करने की आशा करना। संसार के व्यवहार उलझे हुए कच्चे सूत के समान हैं, जितना सुलझाने की चेष्टा करोगे उतने ही ये उलझेगें। इसलिये बुद्धिमानी पूर्वक संसार का व्यवहार चलाते हुए मुख्य बुद्धि पर्मार्थं में ही रखना चाहिये।

X X X

६

जो भाग्य में है वह आयेगा अवश्य

और उसे भोगना ही पड़ेगा

*

इसलिये सम्पत्ति - विपत्ति जो जब आये धैर्य पूर्वक भोगते चलो

मनुष्य निष्क्रिय होकर कभी बैठ नहीं सकता। मन, बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियों के द्वारा कुछ न कुछ चेष्टा करते रहना मनुष्य का स्वभाव है। अपने अपने संस्कारानुसार

प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः ही कार्य में प्रवृत्त होता है। अतः क्रिया में प्रवृत्ति होना स्वभाविक है। यह सिद्धांत है कि जैसा कर्म होगा वैसा फल कर्म करने वाले को अवश्यमेव भुगतना पड़ेगा। अल्प समय में किये हुये कर्म का फल चिरकाल तक भोगना पड़ताँ है। अतः एक जन्म में किये हुये सम्पूर्ण कर्मों का फल दूसरे जन्म में भोगकर समाप्त नहीं किया जा सकता। बिना भोगे कर्मों की राशि सञ्चित् होती जाती है। जब तक यह कर्मों की राशि समाप्त नही हो जाती तब

तक जीव को पुनः पुनः गर्भ में आना ही पड़ेगा। अतः मनुष्य जीवन पाकर इस कर्म राशि को समाप्त करना चाहिये।

शास्त्रों ने कर्मों को तीन विभाग कर तीनों को समाप्त करने के उपाय बतलाये हैं। सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण - यह कर्मं के तीन विभाग हैं। सञ्चित कर्म अनन्त हैं। वे भोग कर समाप्त नही किये जा सकते। उनको समाप्त करने का उपाय या तो ज्ञान की प्राप्ति है अथवा भगवान् के चरणों में अनन्य भक्ति। प्रारब्ध कर्म भोगने से ही नष्ट होंगे, अन्य कोई उपाय नहीं। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मं शुभाशुभम्। क्रियमाण कर्म भगवान को अर्पण कर देने से बन्धन के हेतु नहीं होते। इस प्रकार सञ्चित कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध करके, प्रारब्ध कर्म भोग कर और क्रियमाण कर्म भगवान को समर्पण करके कर्म - बन्धन से मुक्त हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं।

(१२)

यदि साधन हीन होने के कारण ज्ञान की प्राप्ति में देर है तो कम से कम क्रियमाण कर्म तो भगवान को अर्पण करते जाओ। ऐसा करने से इस जन्म के कर्म बन्धन के हेतु नहीं बनेंगे। साथ ही यह बिचार भीं पुष्ट करलो कि प्रारध्ध भोग तो भोगना हो पड़ेगा, ज्ञानी भी इससे बच नहीं सकता। अतः प्रारब्ध वश आये हुये दुःखों को वीरता पूर्वक सहन करो। आपत्तिकाल में भी धैय को न छोड़ो। इसी प्रकार सुख

की प्राप्ति होने पर प्रमादी मत बनो। ऐसा करने से पुण्य का संचय होगा और लोक - परलोक दोनों बनेंगे।

X X X

७

मनुष्य का शरीर मिला है, इसे व्यर्थ न जाने दो

*

अपने कल्याण का मार्ग समझो और उस पर चलो

पेट की चिंता में और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषयों को भोगने की वासनाओं में ही पड़े रहकर जीवन का अमूल्य समय नष्ट न कर दो। यह तो पशु - पक्षी, कीट - पतंग आदि योनियों में भी करते आये हो। मनुष्य होकर भी यदि यही किया तो फिर उसी चौरासी लक्ष योनियों के चक्कर में पड़े रहोगे ;छुटकारा मिलना कठिन है। मनुष्य शरीर की

की कीमत करो। विचार से काम लो। अपने वास्तविक कल्याण का मार्ग समझो और ऐसा करो कि चार - चार फिर गर्भं की काल - कोठरी में न आना पड़े।

अपने जीवन को धार्मिक बनाओ। धर्म का बन्धन स्वीकार करना कल्याणकारी है। स्वतंत्र हो गये हो तो ऐसा मत सोचो कि हम धर्म के तंत्र में भी नहीं रहेगे। धर्म के तंत्र में रहैओगे तो लोक में भी उन्नति करोगे और परलोक भी उज्ज्वल रहेगा।

धर्म - तन्त्र से अपने को मुक्त मानोगे तो उछृंखल अधर्म - तंत्र में फँस जाओगे और अपना सर्वनाश कर बैठोगे। स्वधर्म को अपनाओ। स्वथर्म - पालन ही एक ऐसा उपाय है जिससे मनुष्य - जीवन कृतार्थ हो सकता है।

अपने जीवन के व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में स्वधर्म पालन की आवश्यकता है। सभी क्षेत्रों में देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की हलचलों को धर्मानुकूल रखने से ही अधर्मं से बचोगे।

धर्मं की उपेक्षा करने का अर्थ है, अधर्म को अपनाना। जीवन के जिस क्षेत्र में धर्म की उपेक्षा करोगे उसी क्षेत्र में अधर्म का प्राधान्य हो जायगा और वह क्षेत्र तो कलुषित

होगा ही, साथ ही उसके सारे अधर्म का फल व्यक्तिगत रूप से अकेले भोगना पड़ेगा। कर्त्ता ही कर्मं का जिम्मेदार होता है। इसलिये जीवन दे व्यक्तिगत अथवा सामाजिक अथवा राजनैतिक किसी भी क्षेत्र में

कोई भी काम करो तो विचार कर लो कि धर्म के विरुद्ध तो नहीं हो रहा है। जितना अंश धर्म के विरुद्ध हो उतना कार्यान्वित मत करो। धर्म - विरुद्ध कार्य किसी की रजोगुणी, तमोगुणी बुद्धि में भले ही लाभदायक जँचे, परन्तु परिणाम में वे बलहीन और अनर्थकारी ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि धर्मावलम्बन सदा कल्याणकारी और अधर्मावलम्बन या परधर्मावलम्बन सदा अनर्थकारी होता है।

X X X

८

कर्म से भी मोक्ष सम्भव

*

निष्काम कर्मयोग का सहारा लेकर

प्रत्येक मनुष्य भवसागर पार हो सकता है।

निष्काम कर्म का अर्थ यह नहीं है कि बिना कामना के कर्म करो, क्योंकि बिना कामना के तो कोई भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रवृत्ति होने में दो हेतु हुआ करते हैं - एक इप्ट [इष्ट] साधन का ज्ञान अर्थात् इस बात का ज्ञान कि यह कार्य करने

से हमें इष्टकी (सुख की) प्राप्ति होगी ; और दूसरा कृत - साध्यता का ज्ञान अर्थात् यह ज्ञान कि इस कार्य को हम कर सकेंगे। यह दो बातें निश्चय हो जाने पर ही किसी कार्य में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। दो में एक भी बात में सन्देह हो जाय तो प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये कामना पूर्वक ही कर्म में प्रधृत्ति [प्रवृत्ति] होती है। अतः निष्काम कर्म का अर्थ यही निकलता है कि जो कर्म किया जाय भगवान को अर्पण करने के लिये ही किया जाय। भगवान के निमित्त किये हुए कर्म ही निष्काम कर्म कहलाते हैं। भगवान को जो कर्म अर्पण किये जाते हैं वह बन्धन के हेतु नहीं होते। तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में ही है ; फल की कामना कभी मत करो। क्योंकि जीव जन्म - जन्मान्तरों से गरीबी भोगता चला आ रहा है ; इसको माँगने का भी सहूर [? सहार]नहीं है, न जाने क्या माँग ले। जब कोई माँगता है तो अपनी हैसियत से माँगता है। जीव यदि कर्मों के फल को इच्छा करेगा तो अपनी हैसियत से छोटे फल की ही इच्छा करेगा और यदि भगवान पर ही सौंप दे तो भगवान जो सर्वज्ञ शक्तिमान हैं अपनी हैसियत से उसे ऊँचा से ऊँचा प्रदान करेंगे।

भगवदर्पण बुद्धिपूर्वक कर्म करने वाला मनुष्य भगवान के लोक को प्राप्त होकर निष्ठानुसार सालोक्य सामीप्यादि मुक्ति प्राप्त कर लेता है और जन्म - मरण के बन्धन से सदा के

लिए छुट जाता है। कर्म करते हुए कर्मबन्धन से छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त करने का यही उपाय है।

X X X

९

जीना उन्ही का सार्थक है

जो जीकर कुछ आगे के लियै बनायें

*

संसारी लोग जितनी चेष्टा धनवान, पुत्रवान, प्रतिष्ठवान बनने के लिये करते हैं उतना प्रयत्न भगवत् भक्त और ज्ञानवान बनने का नहीं करते। जो परम सुख का साधन है, उसकी उपेक्षा करके दुःख के साधनों का संग्रह करते हैं। किसी भी संसारी वस्तु से कोई कभी सुखी नहीं हो सकता है। संसारी वस्तुओं से सुख प्राप्ति की इच्छा उसी प्रकार है जैसे बन्ध्या के पुत्र के विवाह की तैयारी - वन्ध्या का पुत्र ही नहीं है तो उसका विवाह क्या होगा! धन, स्त्री, पुत्रादि संसारी वस्तुओं में सुख जब है ही नहीं, तो इनसे सुख मिलेगा कैसे! परन्तु अविवेक से अनिष्ट में इष्ट बुद्धि कर ली गई है।

जीना ऊन्हीं का सार्थक है जो जीकर कुछ आगे के लिये बनाना चाहते हैं। 'यदि झोली भरना और खाली करना इतना ही है', तो मनुष्य जीवन निरर्थक ही जा रहा है, ऐसा

मानो।'उदर (पेट) की झोली सबेरे भरो और शाम को खाली करो' यदि इतना ही करते हुए जीना है तो जीना व्यर्थ ही है। जींने की इच्छा इसलिये रखो कि अभी भगवान् का दर्शन नहीं हुआ है उसी के लिये साधन करने के लिये जीना है।

बीज जब सेंक दिया जाता है तो फिर उसमें अंकुर नहीं निकलता। इसीं प्रकार मनुष्य का मन जब ज्ञान और भक्ति की गरमी से सेंक दिया जाता है तो फिर उसमें जन्म - मरण का अंकुर नहीं होता। इसलिये भक्तिमान् और ज्ञानवान् बनने का प्रयत्न करो। परन्तु ऐसे ज्ञानी न बनो कि धन, स्त्री, पुत्रादि से संसार में प्रेम तो बना रहे और 'शिवोहं शिवोहं, ॐ ॐ और अहं ब्रह्मास्मि' कहने लगे ; लोग जब अपने को ब्रह्म कहने लगते हैं तो फिर धर्म - कर्म से भी दूर हट जाते हैं और उधर निष्ठा पुष्ट होती नहीं। इसलिये जब तक संसारी वस्तुओं से प्रेम नहीं हटा है तब तक ब्रह्म के फेर में न पड़कर भगवान की भक्ति करनी चाहिये। भक्ति करते - करते जब भगवान में अतिशय राग हो जायगा तो फिर जन्म - मरण के चक्कर से छूट जाओगे।

X X X

(१८)

१०

मृत्यु - काल की पीड़ा

*

जन्म लेने में जो कष्ट होता है उससे कई गुना अधिक कष्ट मरण काल में होता है। शास्त्रों मे कहा है कि सहस्रों बिच्छुओं के एक साथ दंश करने से जो पीड़ा हो सकती है उससे भी अधिक पीड़ा मरने में होती है। एक बिच्छू के दंश करने पर पीड़ा सहन करना कठिन होता है। यदि सहस्रों बिच्छू एक साथ दंश करें तो क्या दशा होगी! इसी से मृत्यु - काल की पीड़ा का अनुमान किया जा सकता है।

जन्म - मरण की पीड़ा के अतिरिक्त जीवन - काल की पीड़ाओं का अंअन्त नहीं। बिना ईश्वर को प्राप्त किये इससे छुटकारा होना असम्भव है। संसार में जब तक मोह बना हुआ है तब तक पुनः संसार में ही आना पड़ेगा। अशुद्ध भावनाओं से अशुभ वासनाओं का वाध करना चाहिये और फिर केवल ईश्वर - प्राप्ति की ही एक वासना प्रबल करनी चाहिये। यह वासना इतनी पुष्ट हो जाय कि अन्य कोई वासना इसके सम्मुख उदय न हो सके।

X X X

(१९)

११

अन्त - काल न बिगड़ने पाये

*

प्रायः यह देखा जाता है कि जिस बात का जो अधिक चिन्तन करता है अथवा जिसका उसे अधिक अभ्यास होता है, अन्त समय में उसी का स्मरण आता है। यदि कोई वेद - पाठी पागल हो जाय तो अपने पागलपन में भी वह वेद की ऋचाओं को दोहरायेगा। मृत्यु - काल की पीड़ा में होश ठिकाने नहीं रहता है। उस समय उसी का स्मरण होने की सम्भावना अधिक है जिसका जीवन भर अभ्यास किया है। आदि की बिगड़ी बन जाती है परन्तु अन्त की बिगड़ी नहीं बनती। इसीलिये कहा है कि 'अन्त भला सो भला।' अपना अन्त - काल न बिगड़ने पाये, इसकी तैयारी अभी से करने लगो। यही बुद्धिमानी है।

X X X

१२

जिसका वियोग निश्चित है, उसे सुख का साधन बनाना भारी भूल

*

संसार में प्रेम बड़ाओगे तो जन्म - जन्मान्तर तक रोना पड़ेगा

सब का यहाँ नदी - नाव की तरह संयोग है। जहाँ हो, जिस परिस्थिति में हो, वहीं चातुरी से काम लो। सब का प्रोग्राम अपना अलग - अलग बना है। छान - बीन करोगे तो कोई किसी का साथी नहीं मिलेगा, केवल 'मैं और मेरा' ही दिख पड़ेगा। वास्तव में यहाँ संसार में किसी की अपनी स्थिति पुष्ट नहीं है तो दूसरे का कोई क्या होगा। सबका जीवन पत्ते के पानी की तरह है, चाहे जब ढल जाय। कर्माधीन जिसका जहां जन्म हों गया है, उसे वहीं अपना धर्म पालन करते हुए भगवान को स्मरण करते हुये समय को बिताना चाहिये। आवश्यक व्यावहारिक कार्यों को करो, परन्तु ऐसी बुद्धिमानी से करो कि वह कर्म आगे के परलोक - मार्ग में बाधक न हो। चातुरी वही है जो लोक - परलोक दोनों उज्वल बनाये। किसी को धोखा देकर उससे कुछ ठग लेना चातुरी नहीं, वह तो मूर्खता है। जिसको अपना भविष्य नहीं सूझ रहा है, क्या उसको चतुर कहा जा सकता है।

हमारा तो यही कहना है कि ठगो मत, चाहे ठगा जा। अपने धर्म - कर्म का भरोसा रखो। चालाकी और बेईमानी का भरोसा मत रखो। संसार में ऐसे रहो जैसे कि यहाँ का काम भी चलता जाय और परलोक का मार्ग भी उज्वल बनता जाय। यह तभी होगा जब अपने - अपने धर्म का पालन करते हुए भगवान का स्मरण करते चलोगे। ऐसा करोगे तभी जन्म - मरण के बंधन् से मुक्त होकर इस मलमूत्र के शरीर से छुटकारा मिलेगा। नहीं तो बार - बार इसी में लौट - लौट कर आना पड़ेगा।

संसार के सब पदार्थों का वियोग होता है। वियोगान्त वस्तु प्रेमास्पद (प्रेम करने योग्य) नहीं। जिसका वियोग निश्चित है उससे प्रेम करने की आवश्यकता नहीं। प्रेम करोगे तो रोना पड़ेगा और एक ही जन्म में नहीं रोना पड़ता, कई जन्म तक रोना पड़ता है। इस पर एक दृष्टांत है। एक बार महर्षि नारद किसी नगर से होकर जा रहे थे। एक वैश्य ने उनका आतिथ्य सत्कार किया। उसकी श्रद्धा - भक्ति देख कर उन्होंने उसका एक गिलास दुग्ध पी लिया। वेश्य ने पूछा -

महाराज, कहाँ से आ रहे हो?

नारद जी ने कहा - स्वर्ग से।

वैश्य ने पूछा - महाराज, अब यहाँ पधारोगे?

नारद जी ने कहा - थोड़ा मृत्युलोक में घूम कर फिर स्वर्ग लौट जायेंगे।

वैश्य ने प्रार्थना की - महाराज, लौटते समय हमें भी स्वर्ग लेते चलें तो बड़ी कृपा होगी।

नारद ने कहा - अच्छा ले, चलेंगे।

कुछ् दिनों के पश्चात् नारद जी घूम - फिर कर लौटे तो पूछा - सेठजी, स्वर्ग चलोगे?

सेठजी ने कहा - महाराज, चलना तो अवश्य है पर अभी ये लड़के बहुत छोटे नासमझ हैं। ये लोग गृहस्थी का काम संभाल नहीं सकेंगे। थोड़े दिन में ये काम - काज सँभालने योग्य हो जायँ तब चलेंगे।

नारद जी चले गये। थोड़े दिन में वे फिर लौटे। पूछा - सेठजी अब चलोगे?

सेठजी ने कहा - हाँ महाराज, अब तो लड़का बड़ा हो गया है, काम - काज भी कुछ देखने - सुनने लगा है, परन्तु यह अभी अपनी पूरी जिम्मेदारी नहीं समझता। अगले वर्ष इसका विवाह कर दें फिर निश्चिन्त हो जायँ तब चलेंगे। चार वर्ष बाद नारद जी। फिर लौटे तो दुकान पर लड़के से पूछा कि सेठ जी कहाँ हैं? लड़के ने कहा - महाराज, क्या बतायें।

एक ही तो हमारे घर में पिता जी सब सँभाले हुए थे, उनका शरीर छूट गया, तब से हम तो बड़ी परेशानी में हैं।

नारद जी ने ध्यान लगा कर देखा तो मालूम हुआ कि सेठजी मर कर बैल हुए हैं। नारद जी बैल के पास गये और कहा कि सेठ जी अब तो मनुष्य शरीर भी छूट गया, अब स्वर्ग चलोगे न?

बैल ने कहा - महाराज! आपकी बड़ी कृपा है। मैं भी चलने को तैयार हूँ, पर सोचता हूँ कि घर के और बैल इतने सुस्त हैं कि आगे मैं न चलूँ तो कुछ काम ही न हो। कुछ नये बैल आने वाले हैं तब तक मैं इनका काम स।ंभाल दूं, फिर आप कृपा करना मैं अवश्य चलूँगा।

नारद जी फिर दो - चार वर्ष बाद लौटे। उन्हें तो अपना वचन पूरा करना था और वैश्य का एक गिलास् दूध चुकाना था ; इसीलिये बार - बार उसके पास आते थे। इस बार आये तो बैल नहीं दिखा। लड़कों से पूछा कि तुम्हारे यहाँ जो बूढ़ा बैल था वह कहाँ गया? लड़कों ने दुःखी होकर कहा कि महाराज! बड़ा मेहनती बैल था। सब से आगे चलता था। जब से मर गया है तब से वैसा दूसरा बैल नहीं मिला।

नारद जी ने ध्यान करके देखा तों मालूम हुआ कि इस बार सेठ जी कुत्ता होकर घर के आगे पहरा दे रहे हैं। कुत्तों

से पास जाकर नारद जी ने कहा - कहो सेठ जी! क्या समाचार है? तीन जन्म तों हो गया, अब स्वर्ग चलने के सम्बन्ध में क्या विचार है?

कुत्तों ने कहा - महाराज! आप बड़े दयालु हैं। एक ओर मैं आपकी दयालुता देखता हूँ और दूसरी ओर लड़कों का आलस्य और बदइन्तजामी। महाराज! ये इतने आलसी हो गये हैं हि मैं दरवाजे पर न रहूँ तो दिन में ही लोग इन्हें लूट ले जाँय। इसलिये सोचता हुँ कि जब तक हूँ, तब तक इनकी रक्षा रहे तो अच्छा। थोड़े दिन में जरूर चलूँगा।

नारद जी फिर लौट गये। चार - छै वर्ष में फिर आये तो कुत्ता दर्वाजे पर नहीं दिखा। लड़कों से पूछा तो पता चला कि वह मर गया है। ध्यान लगाकर देखा तो मालूम हुआ कि इस बार सर्प होकर उसी घर के तलघर में कोष की रक्षा करते हुए बैठे हैं।

नारद जी वहाँ पहुँचे। कहा - कहिये सेठ जी! यहाँ आप कैसे बैठे हैं? स्वर्ग चलने का समय अभी आया कि नहीं?

सर्प ने कहा - महाराज! ये लड़के इतने फिजूलखर्ची हों गये हैं कि मैं न होता तो अब तक खजाना खाली कर देते। सोचता हूँ कि मेरी गाढ़ी कमाई का पैसा है, जितने दिन रक्षित रह जाय उतना ही अच्छा है। इसीलिये यहाँ मेरी

आवश्यकता है, नहीं तो मैं तो चलने को तैयार ही हूँ।

नारद जी फिर निराश होकर लौटे। बाहर आकर उन्होंने बड़े लड़के को बुलाकर कहा कि तुम्हारे खजाने में एक भयंकर कालरूप सर्प बैठा हुआ है ; ऐसा न हो कि कभी किसी को हानि पहुँचा दे। इसलिये उसे मारकर भगा दो। ऐसा मारना कि उसके सर में लाठी न लगे। सर में लाठी पड़ने से वह मर जायगा। मरने न पावे और कूट - पीट कर उसको खजाने से बाहर कर दो।

महात्मा का आदेश पाकर लड़कों ने वैसा ही किया। सारे शरीर में लाठियों की मार लगाकर उसको लस्त कर दिया और घर के बाहर फेंक आये।

वहाँ जाकर नारद जी उससे मिले और कहा - कहिये सेठ जी! लड़कों ने तो खूब पुटपुटी लगाई ; अभी आपका मन भरा या नहीं? फिर वापिस जाकर घर की रक्षा करोगे या अब चलोगे स्वर्ग? सर्प ने कहा - हाँ महाराज! अब चलेंगे।

तात्पर्य यह है कि गृह में, पुत्र में, धन में, स्त्री आदि में प्रेम हो जाने पर कई जन्म तक वह प्रेम - बन्धन शिथिल नहीं होता और कई जन्मों तक उसी के कारण अनेक यातनायें सहनी पड़ती हैं। इसीलिये कहा जाता है कि संसार में

प्रेम मत फँसाओ। यहाँ प्रेम करोगे तो कई जन्म तक रोना पड़ेगा।

X X X

१३

शत्रु और मित्र में समभाव रखो

दोनों अपने ही दुष्कृत और सुकृत के फल हैं

*

न कोई किसी का शत्रु है, न मित्र। यदि कोई किसी का मित्र हो तो सदा उसे मित्र ही रहना चाहिये। पर ऐसा नहीं देखा जाता। जो मित्र रहता है वही कभी शत्रु हो जाता है। इसलिए स्वभावतः कोई किसी का शत्रु व मित्र नहीं है। अपने सुकृत का फल जिसके द्‌वारा आता है वह मित्रता का व्यवहार करता है और अपने दुष्कृत का फल जिसके द्‌वारा आता है वही शत्रुता का व्यवहार करता है। सुख और दुःख अपने ही कर्मों का फल है। न कोई किसी को सुख दे सकता है, न दुःख। शत्रु व मित्र केवल अपने सुकृत और दुष्कृत फल के वाहन हैं।

जिस समय हमारे सुकृत का फल उदय होता है उस समय सब लोग मित्र बनकर सुख पहुंचाते हैं और जब दुष्कृत

का फल उदय होता है तो वही लोग शत्रु बनकर दुःख देते हैं। सुख - दुःख सर्वथा अपनी ही वस्तु है, उसका निमित्त चाहे जो बन जावे। यदि हमने किसी को मार डाला है तो हमें फांसी होगी। फांसी का दोष न जल्लाद को है और न उस जज को है जो फांसी का हुक्म सुनाता है। हमारी फांसी हमारे ही किये हुए कर्म का फल है। इसलिए जज से और जल्लाद से व्यक्तिगत शत्रुता मानने की क्या आवश्यफता है - जैसा कर्म जड़ है, वैसा कर्म का फल जड़ होता है जो किसी चेतन के सहारे कर्त्ता के पास आता है। जिसके द्वारा हमें सुख मिलता है वह हमारे शुभ - कर्मों के फल का वाहन है और जिसके द्वारा हमें कष्ट होता है वह हमारे पाप - कर्मों के फल का वाहन है।

सुख - दुःख तो सर्वथा अपनी ही वस्तु है। जिस पर आरूढ़ होकर वह आता है वही हमारे सुख - दुःख का निमित्त बन जाता है। यह निश्चय करके राग - द्वेष से अलग रहना चाहिये। जब हमारी वस्तु हमारे निकट आ रही है तो उसमें दूसरे का क्या है? जिसको हमारे सुकृत के फल का निमित्त बनना है वह बने। हमें न किसी से प्रेम करना है, न द्वेष। निमित्त से क्या राग - द्वेष करना! जो मुख्य वस्तु सुख - दुःख है वह तो अपनी ही है ; वह चाहे जिस वाहन पर चढ़कर आये। वाहन का क्या महत्व है?

इसलिये किसी से राग - द्वेष न करते हुए शान्ति पूर्वक धैर्य से अपने कर्मों का फल भोगना चाहिये, चाहे वह सुख रूप में आये या दुःख रूप में, दोनों अपनी ही वस्तु है। अपना संबधी चाहे अच्छा हो या बुरा, अपना ही है ; समीप आने पर उसका स्वागत करना ही उचित है।

x x x

१४

दुष्कर्म हो जाय तो कह दो

और

सत्कर्म करो तो छिपाओ

*

यज्ञ का फल असत्य भाषण करने से नष्ट हो जाता है, तप का फल गर्व से नष्ट हो जाता है ; ब्राह्मण की निन्दा करने से आयु क्षीण होती है, दान किया जाय और उसकी चारों तरफ कह दिया जाय तो उसका फल नष्ट हो जाता है। इसलिए जिसको नष्ट करना है उसको कह दो और जिसको संचय करना हो उसको छिपाओ। यदि कोई पाप हो जाय तो कह देने से पाप का फल बंट जाता है। इसी प्रकार यदि कोई

पुण्य कर्म हो जाय और उसको लोगों से कह दिया जाय तो उसका फल भी बंट जाता है।

X X X

(२९)

१५

ऐसा नहीं कि -

पाप करते जाओ, भगवान् को भजते जाओ

*

भगवान् की कृपा के बल पर पाप करने का विधान नहीं है। वास्तव में जो अनन्य भाव से भगवान् का भजन करेगा उससे कोई अविहिताचरण हो ही नहीं सकता।

अनन्यता का तो अर्थ है कि फिर भगवान् के सिवाय और कोई उसके लिये रह ही न जाय। जब इस प्रकार भक्त की निष्ठा हो जायगी तो फिर जो वह करेगा वह ऐसा ही होगा जिससे भगवान प्रसन्न हों। भगवान के नाम में पाप नाश करने की जितनी शक्ति है उतना पाप पापी कर ही नहीं सकता। बल्मीकि आदि महर्षियों के ऐसे ही उदाहरण हैं जो पहले बड़े पापी - दुराचारी थे, परन्तु अपनी बुराई छोड़कर जब से वे भगवान के भजन में दत्तचित्त हुए तब से बहुत

अच्छे बन गये। पहले का चाहे जितना पापी हो, पर यदि वह भगवान के भजन में लग जाता है तो यह निश्चित् है कि उसकी सदगति होगी।

x x x

(३०)

१६

भगवान् की सेवा करना चाहते हो तो

हनुमान जी का आदर्श पालन करो

*

हनुमान जी ने भगवान् की हर प्रकार से सेवा की, पर उसके बदले में कुछ नहीं चाहा। दास्य भाव को अपनाते हो तो हनुमान जी को उदाहरण में लो। निष्काम भक्ति का यही स्वरूप है। इष्ट के निमित्त कार्य करो और उसके फल रूप में अपने लिये किसी वस्तु की याचना न करो।

इष्ट प्रीत्यर्थ काम करना चाहिये। इष्ट की प्रसन्नता रहे, यही एक वासना हो। ऐसा नहीं कि शकरजी को एक लोटा जल चढ़ाया और प्रार्थना में कहने लगे कि लड़के की नौकरी लग जाय, स्त्री की तबियत् ठीक हो जाय या धन की कभी है अतः। रोजगार में वृद्धि हो

जाय। इस प्रकार की संसारी वासनाओं को लेकर इष्टाराधन करते हो तो इष्ट भी घबराता है ; क्योंकि याचक से सभी दूर भागते हैं। इसलिये इष्ट से कुछ याचना नहीं करनी चाहिये। बस, उसकी सेवा करते चलो। जब उसका ध्यान तुम्हारे प्रति आकृत्ष्ट हो और पूछे कि क्या चाहते हो, तब भी यही कहो कि 'आप की कृपा चाहते हैं, आपकी दृष्टि हम पर रहे, और कुछ नहीं चाहते।'

(३१)

इष्ट की निष्काम सेवा का फल है अन्तःकरण की शुद्धि और अन्तःकरण की शुद्धि का फल है यथार्थ बोध। इसलिये दास्य भाव का बड़ा माहात्म्य है। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि सर्वत्र उपस्थित है और रगड़ने से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार परमात्मा चराचर में रमा हुआ है और उपासना से प्रकट होता है।

उपासना करो, परन्तु उपासना काल में याचना मत करो। भगवान् को ऋणी बनाकर छोड़ दो। जैसे हनुमानजी ने किया था। अन्त में भगवान् राम को कहना पड़ा कि हनुमान, तुमने जो मेरी सेवा की है, उसका बदला मैं कैसे चुकाऊँ? यह है भगवान् को ऋणी बनाना।

वास्तव में परमात्मा जितना दे सकता है उतना जीव मांग नहीं सकता। तुम याचना करोगे तो अपनी हैसियत से कोई छोटी चीज मांगोगे और परमात्मा देगा तो वह अपनी हैसियत से देगा। वह सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान है ; उसके लिये सब कुछ साध्य है। तुम

अपना कार्य करो और पर्मात्मा को अपना कर्त्तव्य करने के लिये छोड़ दो, कभी टोटे में नहीं रहोगे।

x x x

१७

शक्ति का अपव्यय और बुद्धि का दुरुपयोग न करो

*

जो कुछ करो उसे पहले भली प्रकार सोच - विचार लो ; क्योंकि अच्छा या बुरा जो कुछ कर्म होगा उसका फल भुगतना पड़ेगा। पूर्व कर्मानुसार ही शक्ति और बुद्धि प्राप्त होती है। हमारा कर्त्तव्य है कि शक्ति का अपव्यय और बुद्धि का दुरुपयोग न करें।

सदाचार पूर्वक धर्माचरण करते हुए हम अपने लौकिक जीवन को भी सुखी बना सकते हैं और परलोक तो बनता ही है। कोई ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता तो न माने, परन्तु यदि वह संसार में सुख - शांति का साम्राज्य देखना चाहता है तो अन्य जीवों को भी अपने समान समझना पड़ेगा। इस प्रकार भी धर्मिक सिद्धान्तों का पालन उसे करना ही चाहिये।

मनुष्य अधिकांश संगीत से ही सीखता है। अच्छि या बुरी जैसी संगति होगी वैसी ही बातें वह सीखेगा। विशेष बात तो यह है कि मनुष्य अपने साथ वालों को जैसा आचरण करते देखता है वैसा ही यत्किंचित् अंशों में जाने या अनजाने स्वयं भी करने लगता है। सिद्धान्त है कि संगति के

अनुसार ही मनुष्य के आचार - विचार होते हैं। अतः यदि कोई कुसंग में पड़ गया तो वह आचार - विचारों से भ्रष्ट होकर न केवल अपने ही पतन का कारण होगा अपितु अपने संपर्क में आने वालों को भी ले डूबेगा। इसीलिये प्रयत्न करके सत्संग करना चाहिये।

X X X

१८

जैसा देव वैसी पूजा

*

जैसा रोग हो वैसी ही औषधि हो, तब लाभ होता है। क्षुद्र रोगों के लिये क्षुद्र औषधियाँ ही काम कर जाती हैं, परन्तु राजरोग के लिये विशेष औषधियों का प्रयोग करना पड़ता है। मनुष्य वासनाओं के चक्कर में

पड़ा हुआ जन्म - जन्मान्तरों से भवरोग से पीड़ित है। इस महाव्याधि से मुक्त होने के लिए उतनी ही प्रभावशाली महौशधि चाहिए।

राजरोग और भवरोग में यह अन्तर है कि राजरोग मनुष्य के एक ही जन्म को बिगाड़ता है, परन्तु भवरोग जीव को अनेक योनियों में घुमाता हुआ जन्म - जन्मान्तरों तक जन्म - मरण के घोरातिघोर महा दुःखों में डाले रखता है। जन्म - मरण के महा दुःखों का एक मात्र कारण और भवरोग रूपी

महा भयंकर वृक्ष का मूल (जड़) है वासना। वासना रूपी जड़ की अनेकानेक शाखायें फैलकर इस महा भयंकर भवरोग वृक्ष की पुष्टि करती रहती है।

जन्म - जन्मान्तर से इसकी जड़ पुष्टि होति चली आ रही है। इसे निर्मूल करने के लिए बहुत समय तक इसका छेदन करना पड़ेगा, तब यह कट सकेगी। इसलिए अनन्त जन्मों की वासनायें शान्त करने के लिए दीर्घकाल का अभ्यास आवश्यक है।

x x x

१९

झूठे आदमी को कभी शान्ति नहीं मिल सकती

चाहे वह कुवेर के समान धनवान क्यों न हो

*

धर्महीन शिक्षा होने के कारण लोगों को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक कम हो गया है। जैसा करने लगते हैं उसी को ठीक समझते हैं।'पाप करैगें तो नरक की यातनाएं भोगनी पड़ेंगी' - यह भावना प्रायः लोप सी हो गई है। यही कारण है कि आजकल समाज में असत्य का व्यवहार बढ़ गया है। प्रत्यक्ष में इन्द्रिय भोग - सामग्री का साधन अर्थं को ही लोग

सब कुछ समझने लगे हैं। यही कारण है कि अर्थं संग्रह में विहताविहित का ध्यान नहीं रखते। किन्तु यह निश्चित है कि असत् व्यवहार से कभी भी शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता।

सत्संग की कमी के कारण चरित्र - हीनता फैली है। आजकल् लोग यह विश्वास नहीं करते कि बिना बेइमानी किए उनका काम चल सकता है, न भाग्य पर भरोसा है और न विश्वम्भर पर ही विश्वास है। परमात्मा पर विश्वास रखो और कुछ समय सत्यता का व्यवहार

करके देखो। इससे जीवन में सन्तोष का अनुभव होगा और संतोष ही सुख का स्वरूप माना गया है। यथा - 'सन्तोष परमं सुखम्'। झूठे आदमी को कभी भी शांति नहीं मिल सकती, चाहे वह कुबेर के समान धनवान क्यों न हो जाय। यह सदैव शंकित रहता है और उसका हृदय जलता रहता है। इस प्रकार वह इस लोक में भी सुखी नहीं रह पाता और परलोक तो उसका बिगड़ता ही है।

x x x

(३६)

२०

दूसरे में नहीं -

अपने में दोष देखो

*

चरित्रवान मनुष्य की लोक - परलोक दोनों में शान्ति का अनुभव कर सकता है। जो चरित्र भ्रष्ट है उसे न इस लोक में शान्ति रहती है, और परलोक में उसके लिए शांति की बात ही क्या! दूसरों की बुराइयाँ मत देखो, अपने में ढुढ़ो कि कौन सी बुराई अभी तक है, उसे हटाने का प्रयत्न करो। अपने में दोष खोज - खोज कर निकाला तो कल्याण होगा।

कभी भी किसी के दोषों का चिन्तन मत करो। दूसरों में दोष ढूंढ़ने से अपना भी अन्तःकरण मलिन होता है। पाप कोई करे और उसका चिन्तन हम करें - यह तो कोई हमारे लाभ की बात नहीं। जब हम स्वयं पाप करने से डरते हैं तो दूसरे के पापों का चिन्तन करके अपने मन को पापी क्यों बनायें?

दूसरे के दोषों का चिन्तन करोगे तो उसको तो कोई लाभ होगा नहीं, उल्टे दूसरे के दोष तुम्हारे मन में घुसेंगे। इसलिये ऐसा काम करो कि कम से कम अपनी रक्षा तो रहे।

(३७)

अपनी रक्षा का ध्यान न किया तो जैसे आंधी आयेगी उसी में उड़ जाओगे। अपने को ही देखने का अभ्यास करो। नित्य सायंकाल विचार करो कि आज हममें कितने गुण - दोष आये और कितने छूटे। अपने दोषों को देखने लगोगे तो फिर धीरे - धीरे दोष अपने आप छूटने लगेंगे। दोषों के सम्बन्ध में पहले अपनी चिन्ता रखो ; दूसरे की बात सोचना अपने लिये घातक है। पहले अपनी रक्षा करो, बाद में दूसरे की चिन्ता।

X X X

२१

संसार प्रेम का पात्र नहीं -

इसमें मन को फँसाओगे तो धोखा खाओगे

*

यह लोक धर्मशाले का निवास है। यहाँ अपने मन को बहुत फँसाने लायक नहीं। साधारण रूप से काम करो और दृष्टि आगे की यात्रा पर रखो। इस धर्मशाले के प्रबन्ध में अपने को फँसा लेना मूर्खता ही है। जो जैसी चीज है उसके साथ वैसा ही बरतो। चार दिन के जीवन में बहुत हाव - हाव अच्छा नहीं। जब तक साँस चल रही हैं भगवान् का भजन् करते हुए समय को काटो। व्यवहार में शिष्टाचार करते चलो। मन को अधिक मत फँसाओ। मन में यदि व्यवहार घुस गया

तो चार - चार लौटकर चौरासी लक्ष योनियों के चक्कर में घूमना पड़ेगा। इसलिये बड़ी सतर्कता से काम करो ; तन और धन से तो व्यवहार चलाओ और मन से परमात्मा का चिंतन। ऐसा विभाग कर लोगे तभी ठीक से सुख - शान्ति का अनुभव कर सकोगे।

X X X

२२

पुरस्कार के योग्य का पुरस्कार

और

तिरस्कार के योग्य का तिरस्कार करो

*

चरित्र - हीन लोगों से कथा - वार्ता सुनना व सत्संग करना वैसा ही है जैसा वेश्या के मुख से गीत - गोविन्द सूरसागर सुनना। गंगाजल पान करना है तो शुद्ध धारा से लो, नाबदान से गंगाजल बह कर आये तो उसको पीने का विधान नहीं है। यदि उपदेशक चरित्रवान है तब तो उसकी बात सुनो। चरित्र - हीन के शब्दों में केवल राग - रागिनी में मुग्ध हो जाना उसकी चरित्रहीनता को बढ़ाने में सहयोग देता है।

जो भगवान् का भजन करता है उसका चरित्र उत्तम होना चाहिये। यदि चरित्र - हीन है तो उसे समझ लो कि

भगवान् का भक्त नहीं है, लोगों को धोखा देने के लिये वह ऊपर से भक्ति का हाव - भाव दिखाता है। ऐसे धोखेबाज लोगों से स्वयं बचो और अपने सम्पर्क की भोली - भोली धार्मिक जनता को भी बचाओ।

मान - सम्मान उन्हीं का होना उचित है जो चरित्रवान् हैं। ऐसा ठीक नहीं कि घी का लड्डू टेढ़ा - मेढ़ा ; जब घी का लड्डू है तो उसका स्वरूप भी ठीक रहना चाहिये, टेढ़ा क्यों हो। जब कोई भगवान् की भक्ति का उपदेश देता है, सत्संग करने का दावा करता है तो फिर उसको चरित्रवान् होना चाहिये। तभी तो जनता को विदित होगा कि भगवान् का भजन - पूजन करने से पुराने पाप कटते हैं और वर्तमान के दुर्गुण छूटते हैं।

यह सिद्धान्त बना लेना चाहिये कि तिरस्कार के योग्य जो हो उसका अवश्य ही तिरस्कार करो और पुरस्कार के योग्य का पुरस्कार करो। तिरस्कार के योग्य लोगों का पुरस्कार करने से उनकी संख्या बढ़ती है और समाज में गंदगी फैलती है।

x x x

२३

जो आया है वह अवश्य जायगा रहना यहाँ किसी को नहीं

*

हर समय बिस्तर बाँधे तैयार रहो। न जाने किस समय वारण्ट आ जाय। मृत्यु का वारन्ट गिरफ्तारी वारन्ट होता है, उसमें फिर अपील

का गुंजाइश नहीं होती, तुरन्त सब छोड़ कर चलना पड़ेगा। जो जहां है वहीं पड़ा रह जायगा। पहले से तैयार रहोगे तो चलते समय कष्ट नहीं होगा।

जो हर समय चलने के लिये तैयार रहेगा उससे कभी भी पाप नहीं होगा। परलोक को भूल जाने से ही दुराचार पापाचार होता है। यहि हर समय स्मरण रहे कि यह सब तो एक दिन छोड़कर ही चलना है तो फिर मनुष्य असत्य और अविहिताचरण को कभी न अपनाये।

विचार करो कि जब पिता, पितमह, परपितमह नहीं रहे तो ऐसा तो नहीं हो सकता कि हम रहें। जब चलना निश्चित है तो पहले से ही तैयारी कर लोगे तब यात्रा में आराम रहेगा ; और पहले से तैयारी नहीं की तो फिर कष्ट ही होगा। सतर्क रहो कि - 'कोई काम ऐसा न हो जाय जिसके लिये चलते समय पछताना पड़े।'

(४१)

यदि सतर्क नहीं रहोगे तो नीचे गिरने से बच नहीं सकते। संसार का प्रवाह ऐसा है कि नीचे की ओर ही ले जाता है। इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ मनुष्य को बहिर्मुखी बनाती हैं और बहिर्मुखता में वासनाओं के चक्कर में पड़कर फिर अधिक विचार करने की क्षमता नहीं रह जाती। इसलिये सदैव सतर्क रहने की आवश्यकता है।

मनुश्य अपने जीवन - काल में जो अच्छा - बुरा करता है वह मरणकाल में सब स्मरण आ जाता है। जो - जो पाप हुए रहते हैं उनके भयंकर फल का स्मरण करके जीव अन्तकाल में बहुत पछताता और बहुत दुखी होता है। इसलिये सतर्क रहना चाहिये कि ऐसा कोई पाप न हो जाय जिसके लिये अन्त समय में पछताना पड़े।

X X X

२४

भगवान् के भजन में लाभ ही लाभ है

जितना समय लगा अगे उसका मूल्य कई गुना

ब्याज सहित मिलेगा

*

यह एक ऐसा रोजगार है जिसमें घाटे की शंका नहीं। भगवान् के भजन में लाभ ही लाभ है। पर बात यह है कि

लाभ का रोजगार करने का भी भाग्य होना चाहिये। भाग्य - हीन मनुष्य तो उसी अव्यवसाय में लगेगा जहाँ घाटा हो। बड़े आश्चर्य की

बात है कि धन और संसारी वस्तुओं की प्राप्ति के लिये लोग कितना अथक प्रयत्न करते हैं - दिन - रात एक कर देते हैं। परन्तु जिस भगवान् की प्राप्ति से सब कुछ सहज सुलभ हो जाता है उसके लिये उचित प्रयत्न नहीं करते। कितना बड़ा अविवेक है! इससे बड़ा आश्चर्य और हो ही क्या सकता है कि सुख - शान्ति के मूल कारण सर्वशक्तिमान् भगवान् की ओर ध्यान न देकर तुच्छ संसारी चीजों की प्राप्ति के लिये दिन - रात परेशान रहें। कहावत है -

'**एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय॥**'

एक भगवान् की प्राप्ति हो जाने से सब कुछ सहज प्राप्त हो जाता है। भगवान को छोड़कर और सब वस्तुओं की प्राप्ति के लिये चेष्टा करते रहो तो कुछ भी प्राप्त नहीं होगा - जो प्राप्त भी होगा वह इतना न होगा कि सन्तोष हो जाय।

छाया को पकड़ना चाहते हो तो भी असली रूप को पकड़ो तो छाया तुरन्त पकड़ में आ जायगी। रूप को छोड़कर छाया के पीछे जितना भागोगे उतनी वह भी आगे भागती जायगी। इसलिये छायारूप संसारी ऐश्वर्य - यश आदि के पीछे भागना मूर्खता ही है। असली रूप पर्मात्मा को

पकड़ो तो यह स्वयं तुम्हारे अधिकार में आ जायगा। स्मरण रखो कि भगवान् के भजन में लाभ ही लाभ है। जितना समय इसमें लगाओगे उसका कई गुना ब्याज सहित अदा हो जायगा।

X X X

२५

परमात्मा विश्वम्भर है

*

वह तुम्हारा भरण - पोषण करेगा, उसको भूलकर

तुम कृतघ्न मत बनो

जिसने तुमको उत्पन्न किया है वह सर्वशक्तिमान् है और उसका नाम विश्वम्भर है। विश्व का भरण - पोषण करने का भार उसने ऊपर लिया है। उस पर विश्वास करो - उसने पैदा किया है तो पालन भी करेगा। परन्तु यदि तुमने उसको भुला दिया तो कृतघ्नता का दोष तुमको लगेगा और तब उसकी उपेक्षा हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

"**का चिंता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते।**
नोचेदर्भक जीवनाय जननी स्तन्यं कथं निस्सरेत्?"

यदि भगवान् का नाम विश्वम्भर (विश्व का भारण - पोषण करने वाला) है तो मुझे अपने जीवन में पेट के लिये चिन्ता करना व्यर्थ है। यदि परमात्मा की विश्वम्भरता पर

किसी को विश्वास न हो तो हम पूछते हैं कि बालक के गर्भ में अन्दर रहते हुए ही उसके लिये दुग्ध भाता के स्तन में पहले से ही कैसे आ जाता है!

परमात्मा की विश्वम्भरता का इससे अधिक ज्वलन्त प्रमाण क्या हो सकता है कि भोक्ता के बाहर आने के पहले ही भोग्य तैयार है। इसलिए विश्वम्भर का विश्वास करो। जिसने गर्भ के अन्दर रक्षा की है वह अभी भी रक्षा करेगा। उसको भूलो मत।

x x x

२६

जितने दिन जीना है शान्ति से जियो

अधिक हाव - हाव करना व्यर्थ है

*

महाराजा दशारथ जैसे समर्थ चक्रवर्त्ती नरेन्द्र के भी सारे मनोरथ पूरे नहीं हुए। इसलिये अपने - अपने मनोराज्यों को पूरा करने में अहर्निश परेशान रहना भारी भूल है।

यह नहीं भूलना चाहिये कि एक दिन अवश्य ही यहाँ से चलना है। यहाँ का प्रोग्राम सब यहीं ऐसा ही रह जायगा। जो जहाँ है वह वहीं पड़ा रह जायगा। सब कुछ छोड़कर अकेले यात्रा करनी पड़ेगी। इसलिये जो छोड़कर जाना है

उसके लिये व्यस्त मत रहो। जितने दिन रहना है शान्ति से रहो। जब यह निश्चय है कि कार्य कभा समाप्त नहीं होंगे, तो कार्यों के पीछे अधिक हाव - हाव करना व्यर्थ है। शान्ति पूर्वक स्वधर्मानुष्ठान करते हुए परमात्मा का स्मरण करते चलो।

जिसने पैदा किया है वह विश्वम्भर है। सबके भरण - पोषण का भार उस पर है, वह स्वयं प्रबन्ध करेगा। किन्तु यदि उस पर विश्वास न करके अपनी चातुरी - चालाकी, दगाबाजी - बेइमानी पर विश्वास करोगे तो जीवन भर अशान्ति रहेगी और आगे भी मार्ग में अँधेरा रहेगा। इसलिये ऐसा करो कि जीवन - काल में भी शान्ति रहे और आगे का मार्ग भी उज्ज्वल रहे।

x x x

२७

शक्ति प्राप्त करो

*

शक्तिहीन जीवन व्यर्थ है

शक्तिशाली होकर जीवन व्यतीत करो। मनुष्य का शरीर मिला है, पुरुषार्थ करके बलवान बनो। स्मरण रखो कि तुम उन्हीं महर्षियों की संतान हो जो संसार में सब कुछ कर सकने में समर्थ थे। अपने संकल्प से दूसरी सृष्टि रच देने का

सामर्थ्य जिनमें था उन्हीं की तुम संतान होकर आज चारों तरफ से दुःख और अशान्ति से घिर रहे हो। अपने घर की निधि को भूल जाओगे तो फिर दरवाजे - दरवाजे ठोकर तो खानी ही पड़ेगी।

शेर यदि भेड़ियों के झुंड में जाकर भें - भें करने लगे और उसी में सुख मानने लग जाय तो यह उसके लिये कितने लज्जा की बात होगी। इसी प्रकार भारतीय यदि अपने पुराने आध्यात्मिक और आधिदैविक सम्पत्तियों को भूल जाय और ऊपरी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध

आदि की भौतिक सामग्री को प्राप्त करके ही सुख - संतोष मान लें तो यह उनका कितना पड़ा पतन है।

शक्तिशाली बनने के लिये अपने पूर्वजों के अनुभूत नुसखों से काम लो। सर्वशक्तिमान् जगन्नियन्ता की शरण में आओ। अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करो। जगन्नियामिका चेतन सत्ता पर अधिकार प्राप्त करो। तब वास्तव में शक्तिशाली बन सकते हो और वही स्थिर शक्ति सत्ता होगी। निश्चय रखो कि आज भी तुम त्रिकालदर्शी और तत्र - विजयी होकर समस्त ब्रह्माण्ड की शक्तियों को अपने अनुकूल कर सकते हो। भारत में तुम्हारा जन्म हुआ है। तुममें अनन्त शक्तियां निहित हैं। प्रयत्न करके उनका

उद्घाटन करो और शक्तिशाली होकर उन्नत मस्तक होकर रहो।

X X X

२८

साकार - निराकार के झगड़े में न पड़ो

*

जो निराकार है वही साकार होता है। स्थिर प्रशान्त महासमुद्र ही तरंग के रूप में ऊपर उठकर दिखलाई पड़ता है। जैसे तरंग समुद्र की सीमा से बाहर चली गई मालूम पड़ती है और फिर लौटकर समुद्र में विलीन हुई प्रतीत होती है, उसी प्रकार निर्गुण निराकार व्यापक परमात्मा हो सगुण साकार रूप लेकर एक देश में आते हैं।

हम तो यह कहेंगे कि भगवान् के साकार रूप में प्रकट होने से ही निराकार परमात्म - सत्ता की प्रत्यक्ष सिद्धि होती है। काष्ठ में अग्नि सर्वत्र है, यह तभी प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है जब किसी स्थल को रगड़ने से वहाँ अग्नि प्रकट हो जाता है।

सिद्धान्त यही है कि निर्गुण निराकार ही सगुण साकार होता है और सगुण साकार से ही निर्गुण निराकार की प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। अतः निराकार - साकार के झगड़ों में न

पड़कर कहीं भी अपने मन को जमाओ। निष्ठा जमाने से ही कल्याण होगा। निराकार और साकार के सम्बन्ध में झगड़ा मचाने से कोई लाभ नहीं।

तुम चाहे निराकार पर सील लगाओ या साकार पर, उससे निराकार या साकार का कुछ बने - बिगड़ेगा नहीं। अपने कल्याण के लिए कहीं भी निष्ठा जमाने का प्रयत्न करो। किसी सद्गुरू से अपने

अधिकारानुसार उपयुक्त उपासना का प्रकार समझ कर उपासना कर चलो और विधान पूर्वक आत्मा या पर्मात्मा में निष्ठा जमाने का अभ्यास करो। साकार में भी निष्ठा पुष्ट हो जायगी तो भी जन्म - मरण का बंधन कट जायगा और लोक में भी सुख - शान्ति से जीवन बीतेगा।

x x x

२९

जैसा काछो वैसा नाचो

*

जिस आसन पर बैठो उसे गन्दा न बनाओ जिस पद को स्वीकार करो उसको कलंकित मत करो

या तो किसी चीज को अपनाओ मत, और यदि अपनाते हो तो उसको ठीक से निबाहो। जो पद अपनाओ उसकी रक्षा

करो। जिस कार्य को हाथ में लेते हो, उसकों विधानपूर्वक पूरा करने के लिये प्रयत्नशील रहो।

जिस कार्य के करने की योग्यता हो और चाव हो उसी कार्य में हाथ लगाना चाहिये। केवल माहात्म्य देख कर कार्य आरम्भ कर देने से फिर आगे चलकर जब उसमें कठिनाइयाँ आती हैं तो अशान्ति होती है। इसलिये जगत् में ऐसे ही कार्य करो, जिसमें अशान्ति की शङ्का अधिक न हो। इस बात का सदा ध्यान रखो कि जिस पद को अपनाया है वह कलंकित न होने पाये। माता के साथ व पिता के साथ उत्तम व्यवहार रखो, जिसमें पुत्र का पद कलंकित न हो। बहिन - भाइयों से उत्तम प्रेमपुर्ण - व्यवहार रखो, जिससे भाई का पद कलंकित न हो। पत्नी से मर्यादापूर्ण उत्तम व्यवहार रखो, जिससे पति का पद कलंकित न हो। गुरु के साथ सदा विनम्र और पूज्यभाव रखो, जिससे तुम्हारा शिष्य का पद कलंकित न हो। यदि कहीं किसी सरकारी नौकरी में हो तो अपने पदानुकूल न्यायोचित व्यवहार करो और पद का दुरुपयोग करके उसे लोगों की दृष्टि में कलंकित मत करो। तात्पर्य यह है कि जहाँ जिस आसन पर बैठो उसे अपने द्वारा गन्दा मत बनाओ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जिस भी कुल में जन्म हो गया है, उस कुल की मर्यादा को अपने द्वारा भ्रष्ट मत होने दो। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ या सन्यास जिस आश्रम को अपनाओ उसके

नियमों का पालन करते हुए उसे गौरवपूर्ण ढङ्ग से निबाहो। कहीं ऐसा काम न कर बैठो कि तुम्हारा पद कलंकित हो जाय।

X X X

३०

प्रेम परमात्मा में और प्रेम की छाया संसार में

*

प्रेम का आन्तरिक मनोभाव सांसारिक वस्तुओं में न भी लगाया जाय, तब भी व्यवहार बन्द नहीं होगा, कार्य सब चलते रहेंगे। व्यवहार का संचालन तो प्रारब्ध - अदृष्ट करता है। जब तक शरीर है तब तक तो प्रारब्ध है ही। इसलिये इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि व्यवहार से प्रेम हट जायगा तो सारे कार्य ही समाप्त हो जायेंगे। पर यह भी बात है कि सर्वत्र एक सा प्रेम नहीं रहता। सांसारिक पदार्थों में और सम्बन्धियों आदि के साथ प्रेम् का तारतम्य (न्यूनाधिक्य) रहता ही है। इसलिये प्रेम का तारतम्य ऐसा जमाओ कि मुख्य प्रेम की 'सीट' में परमात्मा को बैठाओ और सामान्य प्रेम का स्थान सांसारिक व्यवहार को दो। व्यवहार संचालन के लिये अर्थात् प्रारब्ध को भोगने के लिये प्रेम की छाया से ही काम चल जाता है। जहां छाया

से काम चल जाय वहाँ मुख्य वस्तु को लगाना उसका दुरुपयोग ही तो है।

व्यवहार संचालन के लिये सांसारिक पदार्थों को मुख्य राग का विषय बना लेना बड़े घाटे का व्यापार है। धन में या स्त्री - पुत्र में भीतर से ममत्व रखना ही खतरे की चीज है। इनमें यदि भीतर से प्रेम बड़ाया तो संसार में ही लटक कर रह जाओगे और आगे की यात्रा में अंधेरा ही रहेगा। इसलिये मुख्य प्रेम परमात्मा में और प्रेम की छाया व्यवहार में रखो, तो यहाँ का काम भी नहीं रुकेगा और आगे भी प्रकाश रहेगा।

x x x

३१

देवत्व से मनुष्यत्व श्रेष्ठ है

उत्तम पुरुषार्थ करके मनुष्य जीवन सफल बनाओ

देवयोनि भी अन्य योनियों की तरह भोग - योनि मानी गई है। देवयोनि की प्राप्ति दिव्य भागों की लालसा रखने वाले, यज्ञानुष्ठान आदि दैवी कर्मों को करने वाले मनुष्यों को प्राप्त होती है। देवलोक में विषय - भोगों की प्रचुरता के कारण देवताओं की बुद्धि घूम - घूम कर उसी में रहती है, आगे

उनसे पुरुषार्थ नहीं बन पड़ता। इसीलिये मनुष्य - योनि को श्रेष्ठ कहा गया है ; क्योंकि यहाँ पर मनुष्य पुरुषार्थवान् होकर इतना पुरुषार्थ कर सकता है कि साक्षात् परब्रह्म हो सकता है।

मनुष्य स्वर्ण का पासा है और देवता तो बने हुए आभूषण के समान हैं। आभूषण तो जो बन गया सो बन गया ; अब उसकी तरक्की समाप्त हो गई, आगे कुछ वह और अच्छा बन नहीं सकता। परन्तु जब तक स्वर्ण पासा के रूप में है, तब तक उसकी तरक्की की कोई सीमा नहीं, अच्छा से अच्छा काम उस पर किया जा सकता है, अच्छा से अच्छा उसका आभूषण बनाया जा सकता है। इसीलिये मनुष्य - योनि को सर्वश्रेष्ठ कर्मयोनि कहा गया है। इसमें आकर प्रमाद नहीं करना चाहिये। सावधानी के साथ उत्तम पुरूषार्थ करना चाहिये। स्वधर्मानुष्ठान करते हुए पर्मात्मा में निष्ठा बढ़ाना ही उत्तम पुरुषार्थ है। प्रयत्न करो कि इसी जीवनकाल में परमात्मा का अभेद सम्बन्ध हो जाय। वेदशास्त्र पर विश्वास करते हुए वेदशास्त्रीय सिद्धान्तों को मानने वाले संत - महात्माओं और विद्वानों से सत्संग करो तो मनुष्य - जीवन सफल रहेगा।

X X X

३२

उसकी चिन्ता करो -

जो सब चिन्ताओं से मुक्त कर सकता है

*

सुख - शान्ति का अनुभव तभी होगा जब मन से चिन्तायें निकल जायेंगी। यदि चिन्ताओं को समाप्त करना चाहते हो तो संसार के स्वरूप को समझ लो। संसार को जब जान लोगे तब संसार की वासनायें समाप्त हो जायेंगी। इसका स्वरूप ही ऐसा है कि एक बार ठीक से समझ लेने पर फिर इसमें भीतर से प्रेम नहीं रह सकता।

अनेक पदार्थोण् में प्रेम रहने के कारण ही अनेक प्रकार की चिंतायें उठा करती हैं। चिन्ता ऐसी भयानक होती है कि सारी सम्पदा और मान - सम्मान रहने पर भी मनुष्य को व्याकुल बनाये रखती है। जैसे -

"**चिता चिन्ता द्वयोमंध्ये चिन्त चैव गरीयसी।**
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता दहति सजीवकम्॥"

चिता से चिन्ता अधिक बलवती और भयानक मानी गई है ; क्योंकि चिता तो मरे हुए को जलाती है परन्तु चिन्ता जीवित को हो जलाती रहती है। इसलिये चिंता - मुक्त होने

का प्रयत्न करो। वही परमात्मा जो परम स्वतंत्र और परम निश्चिंत है तुम्हें सब चिन्ताओं से मुक्त कर सकता है। इसलिये उसके पाने की चिन्ता बढ़ाओ तो फिर सारी संसारी चिन्तायें सदा के लिये समाप्त हो जायेंगी।

संसार में व्यवहार तो करो। पर यह समझते रहो कि यह केवल व्यवहार ही की चीज है, प्रेम करने की चीज नहीं। मन यहाँ की किसी वस्तु में फँस जायगा तो फिर चिन्ताओं का पहाड़ लद जायगा और जीवन भी व्यर्थ हो जायगा। इसलिये मन को परमात्मा में लगाओ और संसार मे शिष्टाचार करते चलो।

X X X

३३

जिसे भले - बुरे का न्याय करना है

बह तुम्हारे सब कार्यों की देख रहा हैं

*

परमात्मा अन्तर्यामी है। वह सबके हृदय में सदा विराजमान है। वह सबके सब कार्यों को देख रहा है। उसकी दृष्टि बचकर कोई कार्य नहीं

किया जा सकता। किसी कार्य के लिये यह सोचना कि इसको कोई नहीं जानता,

परमात्मा को अन्धा बनाना है। यह दूसरों को नहीं, अपने को धोखा देना है।

दुष्कर्म में संसारी मनुष्यों की दृष्टि बचा लेने से ऐसा मत सोचो कि कोई नहीं जानता। जिसे भले - बुरे का न्याय करना है वह तुम्हारे सब कार्यों को देख रहा है, उसकी दृष्टि नहीं बचाई जा सकती। जो कर्मों का फल देने वाला है उसकी दृष्टि नहीं बचाई जा सकती। जो कर्मों का फल देने वाला है उसकी दृष्टि तो बचा नहीं सकते और जो स्वयं बिगड़े हु हैं वे कुछ कर नहीं सकते। उनकी दृष्टि बचाने का प्रयत्न करते हो, यह कितना बड़ा अविवेक है। यदि किसी से डरना है तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान से डरो। उसकी रुचि के विरुद्ध कोई कार्य मत करो। उसकी रुचि ही वेद - शास्त्र है। ऐसा कोई कार्य मत करो जिसके लिए वेद - शास्त्र आज्ञा न देता हो।

परमात्मा को सर्वत्र उपस्थित मानोगे तो फिर तुमसे कोई पाप - कर्म नहीं होगा। इसलिये परमात्मा को व्यापक मानते हुये चरित्रवान् बनो, अपने आचरणों में पवित्रता लाओ, अपनी भावनाओं को शुद्ध बनाओ और स्वधर्मानुकूल व्यवहार करो। तभी तुमारा अन्तःकरण पवित्र होगा। अन्तःकरण की पवित्रता बढ़ने से तुम्हारे संकल्प में बल

आयेगा, कार्य अधिक सुदृढ़ होंगे और परमात्मा में भी निष्ठा बढ़ेगी। परमात्मा में निष्ठा बढ़ने से हर प्रकार का मंगल होगा। इसलिए ऐसा

ही मार्ग अपनाओ जिससे सब प्रकार का मंगल हो और लोक - परलोक दोनों बने।

X X X

३४

चार वृत्तियों में ही रहो

तभी लोक - परलोक दोनों बनेंगे

*

मनुष्य के जीवन में स्थूल शरीर की प्रधानता नहीं होती, सूक्ष्म शरीर की ही प्रधानता होती है। स्थूल शरीर तो ढाँचा मात्र है - उसका संचालक है सूक्ष्म शरीर, मन और बुद्धि। मनुष्य का जैसा मन होता है उसी के अनुसार ही उसकी इन्द्रियाँ और शरीर काम करता है। इसलिये मन को सम्भालने की आवश्यकता है।

मन को पवित्र बनाने के लिये योग - शास्त्र के प्रणेता महर्षि पातंजलि ने यह उपाय बताया है कि - "मन को मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन्हीं चार वृत्तियों में रखा जाय।"

अपने बराबरी वालों में मित्रता की भावना, अपने से छोटों पर या अपने से दुखी लोगों पर करुणा (दया) का भाव, अपने से जो अधिक सुखी, अधिक विद्वान या किसी भी अंश

में बड़े हो उनको देखकर प्रसन्नता का भाव बनाना और जो अपने से द्वेष - शत्रुता आदि का भाव रखें उनके प्रति उपेक्षा की भावना रखना, यह नहीं कि उनके प्रति अपने मन में शत्रुता और द्वेष की भावना बनायें। इस प्रकार चार ही वृत्तियों में मन को रखने से ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर आदि भाव कभी मन में उठने नहीं पाते और स्वाभाविक रूप से मन की पवित्रता बढ़ती जाती है। ऐसा करने से व्यवहार में कोई रुकावट नहीं पड़ती और मानसिक 'मल' की निवृत्ति होने से विषय - भोग की लालसा स्वाभाविक रूप से कम होती जाती है और तभी मन अन्तर्मुख होकर भगवान् के भजन में लगता है।

X X X

३५

सिद्धियों के चक्कर में ठगाये मत जाओ

*

आजकल अधिकाण्श लोग सिद्धि ढूँढ़ते हैं, चाहते हैं कि किसी प्रकार से सिद्धि मिले। सिद्धि तो कम लोगों को होती है, परन्तु सिद्धि के लालच में ठगाये अधिक लोग जाते हैं। हमारा काम तो सचेत करने का है। जैसे ग्राम का पहरेदार आवाज देता रहता है कि जागते रहो, उसी प्रकार हम लोग

भी जनता को सावधान करते रहते हैं कि धूर्तों से बचते रहो। चौकीदार आवाज लगाता है कि जागते रहो, वह अपनी 'डिपटी' करता है। फिर उस पर भी कोई बेसुध होकर सोता रहे तो उसका क्या दोष! जो सोता है वह लूटा जाता है। धर्माचार्य तो चौकीदार होते हैं। चौकीदारी करना हमारा काम है। स्वयं जागते हैं और दूसरों को जगातें हैं।

सिद्धियाँ पाँच प्रकार से आती हैं -

"**जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः। - योगदर्शन् ४।१** "

१ - - जन्म से ही कोई सिद्ध उत्पन्न होते हैं। पूर्व जन्म में उपासना की होगी, पर इतनी न कर सके होंगे कि भगवान् में मिल जायें तो ऐसे पूर्वोपास्ती लोगों में जन्म से ही सिद्धियों का चमत्कार रहता है - - जैसे, जड़भरत जन्म से ही सिद्ध थे, उन्हें कहीं श्रवण मनन निदिध्यासन करने नहीं जाना पड़ा।

२ - - औषधियों के द्वारा अनेक प्रकार को सिद्धियां देखी जाती हैं। मैं जब जंगलों में रहता था तो ऐसे अनेक अवसर आये कि कोल - भिल्ल आ - आकर औषधियों के गुण बता जाते थे। एक बार एक भील एक ऐसी जड़ी लाकर दे गया कि जिसको दिखा देने से शेर दूर से ही भाग जाता है। औषधियों के द्वारा कल्प करते हुए मनुष्य सैकड़ों वर्षों तक जीवित रह सकता है। इसी प्रकार की अनेक सिद्धियाँ औषधियों से होती

हैं। ऐसी भी औषधियाँ होती हैं कि जिनको मुख में रख लेने से आकाश में उढ़ने की शक्ति आ जाती है।

३ - - मंत्र से सिद्धियाँ आती हैं। मंत्र का देवता अनुकूल होने पर अपने सामर्थ्यानुकूल कार्य वह करता है। यही मंत्रों के अनुष्ठान से होने वाली सिद्धियों का स्वरूप है। साधारण लोग यक्षणी या कर्ण - पिशाची आदि भूत - प्रेत या छुद्र देवताओं की सिद्धि कर लेते हैं और लोगों की भूतकाल की और वर्तमान की कुछ बातें बताकर अथवा

कुछ असाधारण चमत्कारसा दिखाकर जनता में सिद्ध योगी होने का ढोंग करते हैं। इसी में सीधे - सादे लोगों को धोखा हुआ करता है।

४ - - तप से सिद्धि होती है। ब्रह्मचर्य का पालन करना, उपवासादि रहना तथा भगवत्प्राप्ति के साधनों में कष्टादि का सहन करना सात्विक तप है, इससे शान्ति व सन्तोष बढ़ता है। किसी के लौकिक उत्कर्षापकर्ष या मारण, मोहन, स्तंभन आदि के लक्ष्य से तप करना राजसी - तामसी तप का स्वरूप है। इससे शान्ति व सन्तोष न होकर अशान्ति और उद्वेगादि की वृद्धि के साथ - साथ काम - क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं की वृद्धि हो जाती है और साधक का पतन हो जात्ता है।

५ - - समाधि से सिद्धियाँ आती हैं। किन्तु ये सिद्धियां, साधक को सर्वोच्च स्थिति या जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त

कराने में विध्न रूप होती हैं। इन सिद्धियों से स्थिर कार्यं होते हैं और यदि इनसे बहुत कार्य न लिया गया तो ये स्थायी हो जाती हैं।

तात्पर्य यह है कि किसी मनुष्य में कोई चमत्कार देखा जाय तो उसे सर्वथा योगी ही मान लेना ठीक नहीं। योगियों में जो चमत्कार होते हैं वे गम्भीर होते हैं और उन चमत्कारों का लक्ष्य अपनी प्रसिद्धि या जनता से धनादि संग्रह करना नहीं होता। वे केवल लोक - कल्याण

की भावना से किसी पर दया - दृष्टि होने से ही होता है। इन सिद्धान्तों को समझ कर जनता को भ्रम से बचाना चाहिये।

भगवान् का भजन करो। सिद्धियों के अधिकारी बन जाओगे तो सिद्धियाँ स्वयं तुम्हारे पीछे - पीछे फिरेंगी।

अधिकारी बनना क्या है। लोक - वासना का न होना। जब तक जगत में नाना प्रकार की, पुत्र की, धन की, स्त्री की, मान - प्रतिष्ठा की वासनायें रहेंगी तब तक बलहीन ही रहोगे। कहावत है कि मंगन से 'खुदा' भी डरता है। जगत की वासनायें हटाकर एक परमात्मा के मिलने की वासना बढ़ाओ तो सिद्धि - समूह तुम्हारे पीछे - पीछे फिरेगा, सिद्धि ढूँढ़ने की तुम्हें आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

मार्ग वह अपनाना चाहिये कि जिसमें अपना गौरव नष्ट न हो। जहाँ तुम साक्षात् सर्वशक्तिमान परमात्मा से सीधा

सम्बन्ध स्थापित कर सकते हो वहाँ तुम यदि छुद्र सिद्धियों के पीछे यहाँ - वहाँ ठोकर खाते फिरो तो तुम्हारा दुर्भाग्य है। निश्चय रखो कि यदि तुम सिद्धियों के पीछे भागोगे तो दूर से तुम्हें देखकर सिद्धियाँ दूर भागेंगी। यदि सिद्धियों की इच्छा न करके, सिद्धियों को अपनी आध्यात्मिक उन्नति मे बाधक मानते रहोगे तो हठात् तुम्हें घेर कर सिद्धियां तुम्हारे आसपास् रहेंगी। सिद्धियों को अपने वश में रखने का

उपाय है कि निरन्तर भगवान् के तरफ झुके रहना और सिद्धियों से काम लेने की इच्छा न करना - यह है स्वाधीनता का मार्ग। यदि तुम्हीं सिद्धियों के पीछे - पीछे फिरने लगे तो होगा पराधीनता अपनाना। तब तो तुम सिद्धियों के स्वामी नहीं रह सकते, उनके दास ही कहे जाओगे। इसलिए सिद्धियों के दास नहीं, सिद्धियों के स्वामी बनने की चेष्टा करो। भगवान् के दास बनोगे तो सिद्धियों के स्वामी होकर रहोगे। भगवान् के सेवक बनकर रहोगे तो सब तुम्हारी सेवा कर्ंगे - यही वास्तव में स्वतन्त्र और स्वावलंबी होने का मार्ग है।

x x x

३६

जीव - ब्रह्म की एकता

*

निष्काम कर्म से जन्म - मरण की निवृत्ति। धर्माचरण से ही त्रण

अज्ञान का पर्दा हटाने पर जीव और ब्रह्म का अभेद स्पष्ट अनुभव में आता है। जीव और परमात्मा में जो भेद

दिखाई देता है वह ऐसा है जैसा धान और चावल का भेद। जब तक भूसी है वह धान कहा जाता है और भूसी निकाल लेने से चावल तो वह है ही। इसी प्रकार जीव जब तक कर्म - बन्धन में पड़ा है तब तक पर्मात्म से भिन्न है। कर्म - बन्धन नष्ट होने पर वह पर्मात्मा ही है।

यद्यपि धान चावल ही है, परन्तु भूसी बिना निकाले कोई उसे उबाल कर नहीं खाता। इसी प्रकार कर्म - बन्धन को नष्ट किये बिना वेदान्त की पुस्तकें पढ़कर 'शुद्धोऽहं, विशुद्धोऽह' कहने लगने से कोई ब्रह्म नहीं हो जाता। कर्म - पाश से छुटकारा दिलाने का मार्ग बताने के लिये ही वेद और शास्त्र हैं। यदि हम क्रियमाण (आगामी) कर्मों को ही पर्मात्मा को अर्पण करते जाएं तो भी पुनर्जन्म के चक्र से छूट सकते हैं। यदि धान से समूची भूसी न हटे, केवल उसकी नोंक ही तोड़ दी जाय तो भी उसमें किसी प्रकार अंकुर नहीं निकल सकता। पुनः जन्म लेना ही कर्म का अंकुरित होना है। निर्मली में जल को साफ करने का गुण है, पर यदि उसे घिस कर पानी में न मिलाया जाय तो जल की गन्दगी नहीं हट सकती। उसी प्रकार सनातन वैदिक धर्म कितना ही अच्छा हो पर यदि उसे आचरण में नहीं लगाओगे तो तुम्हारा यह दुःख और दारिद्रय दूर नहीं हो सकता।

x x x

३७

तृष्णा का त्याग और

ईश्वराराधन से ही सुख संभव

*

जगत के पदार्थों से जब कोई निराशा आती है तभी परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। राजा भर्तृहरि को अपनी स्त्री के दुश्चरित्र का पता लगने पर धक्का लगा। तुलसी और पिंगला के उदाहरण भी यही बात पुष्ट करते हैं कि जगत में सुख की आशा भंग होने पर लोग परमार्थ की ओर उन्मुख होते हैं। परन्तु फिर भी ऐसे कितने मूर्ख हैं जो बार - बार संसार की असारता का अनुभव करने के बाद भी पिशाचिनी आशा का त्याग नहीं करते।

निरन्तर सावधान होकर विचार करते रहने की आवश्यकता है। स्त्री, पुरुष, धन, परिवार, वैभव आदि इनके अभाव में यदि दुःख मानते हो तो जिनके पास यह सब हैं उनके जीवन को जाकर देखो। यदि उन्हें उनसे सुख मिलता हो तो तुम भी इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करो। जिनके पास यह सब वस्तुयें हैं उन्हें और भी अधिक क्लेश है। इसलिये तृष्णा को त्यागो। सुख तो तृष्णा को त्याग कर ईश्वर की आराधना करने ही से मिलेगा। संसार में सुख की आशा से

(६४)

कभी भी किसी के सामने दीन मत बनो ; क्योंकि सुख कभी किसी बाहरी वस्तु से प्राप्त नहीं होता। सुख का भंडार तो अपने अन्दर ही है। बाहर तों जो कुछ है सब दुःख का ही सामान है।

बाहर के सांसारिक पदार्थों में जो लोग सुखबुध्हि कर लेते हैं, उन्हें बाद में अनुभव होता है कि धोखा हो गया। मृग - मरीचिकी में जल की प्राप्ति तो हो नहीं सकती। यही है कि दूर से जल दिखेगा और उसकी प्राप्ति के लिये दौड़ते रहो। ठीक यही हाल उन लोगों का होता है, जो जगत् के पदार्थ धन, स्त्री, पुत्र आदि में सुख की भावना करके इनके संग्रह के लिये परेशान रहते हैं। इसमें केवल परेशानी ही उनके हाथ लगती है।

यदि सुख और शान्ति का अनुभव करना चाहते हो तो उसे बाहर के पदार्थों में न धूँढ़ कर अपने अन्दर ही धूँढ़ो। सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही सुखस्वरूप है और अपने हृदय में ही उसका नित्य निवास है। इसलिये अपने अन्दर ही उसे धूँढ़ो। अपने अन्दर ही उस धूँढ़ोगे तभी वह जल्दी मिलेगा।

x x x

(६५)

३८

योजनायें बना - बना कर अपने जीवन को

उलझन में न डालो

*

जगत् तो धर्मशाला है। चार दिन यहाँ रहना है, फिर आगे चलना है। धर्मशाला के निवास में कोई भी प्रबन्ध की उलझन में बहुत अधिक नहीं फँसता - - जैसे होता है काम निकाल लिया जाता है। किसी चीज की कमी भी होती है तो लोग अधिक परेशान नहीं होते - सोचते हैं' कि धर्मशाले में दो दिन किसी तरह काट लो फिर तो इसे छोड़ ही देना है।'धर्मशाले में यदि कोई अपनी इच्छा के अनुसार प्रबन्ध करने लगे तो उसका सारा समय रहने का प्रबन्ध करते - करते ही बीत जाय और जिस कार्य के लिये वह उस नगर या ग्राम में आया है, वह कुछ न हो पाये।

जगत् को भी धर्मशाला ही मानना चाहिये। थोड़े दिन का जीवन है, यहाँ किसी को स्थायीरूप से रहना नहीं है। इसलिये जगत् के प्रबन्ध में बहुत दिलचस्पी मत रखो। उतना ही भाग लो कि जिससे निर्वाह होता चले। यह सदा स्मरण रखो कि जितनी तुम योजनायें बनाओगे, वे सब कभी भी पूरी नहीं हो सकतीं। इसलिये व्यर्थ में 'स्कीमें' (योजनायें) बना -

(६६)

बना कर अपने को आशा के सूत्र में टाँगे रहना और उसी के सम्बन्ध में सोचते - विचारते रह कर रात - दिन अशान्त बने रहना, इसमें समय की बरबादी के सिवा और कोई लाभ नही है।

जगत् में कितना भी प्रबन्ध करो, फिर भी कोई कमी बनी ही रहेगा। इसलिये जो मद्द कभी पूरा होने वाला नहीं है उसमें हाथ लगाना ही व्यर्थ है। जीवन - यापन के लिये सामान्य रूप से शास्त्र विहित पुरुषार्थ करते चलो और मुख्य पुरुषार्थ उसमें करो जिससे स्थायी सुख व शान्ति की प्राप्ति होना है। भगवान् की प्राप्ति के लिये प्रधान रूप से पुरुषार्थ करते हुए लौकिक पदार्थों की प्राप्ति में यह दृढ़ विश्वास रखो कि 'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्।' जो हमारा है वह दूसरे का नहीं हो सकता। जो अपने भाग्य (प्रारब्ध) में है वह अपने पास अवश्य हो आयेगा, उसे कोई रोक नहीं सकता। ऐसी धारणा बनाकर जगत् में लौकिक कार्यों के लिये अधिक व्यस्त न रहते हुए सामान्य लगाव से व्यवहार करते रहो। मुख्य लगाव परमात्मा में रखो। ऐसा करने से जीवन में शान्ति का अनुभव होगा और आगे का मार्ग भी उज्वल बनेगा।

x x x

(६७)

३९

भगवान् का अवतार किस लिये होता है?

*

गीता में भगवान् ने स्वयं अपने अवतार का हेतु यह बतलाया है कि "जब धर्म नष्ट होने लगता है तो उसका अभ्युत्थान करने के लिये, सज्जनों की रक्षा तथा दुष्टों का संहार एवं धर्म की संस्थापना करने के लिये, मैं युग - युग में अबतरित होता हूँ।"

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् तो सर्वशक्तिमान् है, उनकी इच्छा मात्र से सारी सृष्टि का प्रलय हो सकता है, तब क्या बिना अवतार लिये ही वह धर्म की रक्षा और दुष्टों का संहार नहीं कर सकते? इसका उत्तर यह है कि अवतार धारण कर धर्म तथा धर्मिक जनों के उद्धार के लिये भगवान् जो लीलायें करते हैं, अपने जो यश का विस्तार करते हैं, उसका गान करते हुए भक्त जन मुक्त हो जाते हैं। ज्ञान - योग तो अत्यन्त कठिन है, सहस्रों में कोई विरला ही उसका अधिकारी है। परन्तु भक्ति - योग सुगम है और मनुष्य मात्र का उसमें अधिकार है। यदि भगवान् अवतार धारण कर साकार रूप में न आते तो भक्ति - योग का प्रचार ही कैसे होता।

भगवान् को साकार रूप में आ - आकर उन योनियों के सुख - दुःख भोगने की लीला नहीं करनी पड़ती, क्योंकि भगव

अपनी योगमाया से शरीर धारण करते हैं - जैसे, नट नाना प्रकार के स्वरूप बनाकर उन्हीं के अनुरूप कार्य करने लगता है परन्तु उनके गुणों से अप्रभावित रहता है, वैसे ही भगवान् भी लीला मात्र ही करते हैं।

x x x

४०

मन के थोड़े सहयोग से ही व्यवहार चल सकता है

*

प्रश्न यह उठ सकता है कि मन के सहयोग के बिना व्यावहारिक कार्य कैसे चलेंगे? इसका यही समाधान है कि जिस प्रकार कृपण (कंजूस) मनुष्य सब व्यावहारिक कार्य करते हुए भी अपने धन को मुख्य मानकर हमेशा मन से धन का चिन्तन करता है, धन का ध्यान हमेशा रखते हुए भी वह समस्त व्यावहारिक कार्यों को करता रहता है ; इसी प्रकार मन से हमेशा भगवान् का चिन्तन करते रहने पर भी व्यावहारिक कार्य यथाविधि होते रह सकते हैं - - इसमें संदेह नहीं।

प्रधान व अप्रधान का भेद कर लेने से इस प्रश्न का उत्तर ठीक हो जाता है। एक बात और है - - मन जब परमात्मा में

प्रधान् रूप से लग जाता है तब परमात्मा की कृपा प्राप्त होती है। परमात्मा सर्वशक्तिमान है। उसकी थोड़ी भी कृपा जीव का पूर्ण रूप से कल्याण कर सकतो है। ऐसे सर्वशक्तिमान भगवान् की प्रतिज्ञा है कि :-

अनन्याश्चिन्तयन्तोमां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमेंवहाभ्यहम्॥

अर्थात् - - जो मुझे अनन्य भाव से भजता है उसके लिये
योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु का रक्षण) का प्रबन्ध मैं ही करता हूँ। योग और क्षेम में ही मनुष्य का सारा व्यवहार आ जाता है। जब सर्वशक्तिमान भगवान् समस्त व्यवहार संचालन का भार अपने ऊपर लेने को तैयार हैं तब भी मनुष्य व्यवहार के पीछे परेशान रह कर मन को सदा व्यवहार में लगाये रहकर परमार्थ से वंचित रहे इससे अधिक अज्ञानता और मूर्खता क्या हो सकती है!

भगवान् की जब यह प्रतिज्ञा है तब तो यह प्रश्न ही नहीं हो सकता कि मन को प्रधान रूप से भगवान् में लगा दें तो व्यवहार कैसे

चलेगा। जब मन भगवान् में लग जायगा तो व्यवहार जो आवश्यक होगा, वह अधिक उत्तम रीति से चलेगा। यही उपनिषद् और गीता का सिद्धांत है और यही भगवान् के भक्तों का अनुभव भी है।

(७०)

अभी थोड़े दिन की बात है - - ४० - ५० वर्ष हुए होंगे, अधिक समय नहीं हुआ कि चुनकाई दास नाम के एक कानिस्टबिल थे। उनका नियम था कि सबेरे उठकर स्नान करके रामायण का पाठ करके फिर कुछ काम करते थे। एक दिन रामायण - पाठ करते - करते उसी में तल्लीन हो गये, देर तक पाठ ही करते यह गये। डिवटी का समय आया और दो घण्टे की डिवटी का समय भी समाप्त हो गया तब उन्हें याद आई कि डिवटी पर जाना है।

पूजन से उठकर देख तो मालुम हुआ कि डिवटी का समय बीत गया। घबराये हुए दिवटी में गये और जो सिपाही पहरा से रहा था उससे बोले की बड़ी गलती हुई, आज इतनी देर हो गई कि डिवटी का पूरा समय बीत गया, आपको बड़ा कष्ट हुआ होगा।

डिवटी वाले सिपाही ने कहा कि चुनकाई दास तुमको क्या हो गया है। अभी तो तुम हमको अपनी डिवटी का चार्ज दे गये हो, और फिर लौट कर आ गर और ऐसा कह रहे हो, क्या तुम्हारा मस्तिष्क तो नहीं फिर गया है। चुनकाई दास ने कहा - "नहीं मित्र, मुझको आज पूजन में देर लग गई। मैं तो अभी भागा चला आ रहा हूँ।"

उस सिपाही ने बार - बार निश्चय कराया कि आप ने ही अभी डिवटी दी है और मेरे आने के पहले आप की ही

डिवटी थी और आप डिवटी पर बराबर थे। समय पूरा होने पर मुझको डिवटी देकर आप अभी गये हो। उसके बार - बार कहने पर चुनकाई दास को विश्वास हो गया कि मैं घर में भगवान् की आरधना में लीन था और यहाँ भगवान् ने स्वयं आकर मेरी डिवटी दी।

उसी समय चुनकाई दास ने नौकरी छोड़ दी। उसने कहा कि हमारे इष्ट को जब इतना कष्ट हमारी डिवटी के लिये करना पड़ा तो हम अब नौकरी नहीं करेंगे। नौकरी छोड़कर चुनकाई दास चित्रकूट चले गये और वहीं भगवान का भजन करने लगे।

ऐसे - ऐसे अनेक भक्तों को प्रत्यक्ष अनुभव हुए हैं जहाँ पर भगवान ने स्वयं उनके व्यावहारिक कार्यों को पूरा किया है। वेद - शास्त्र तो प्रमाणित करता ही है कि भगवान् की प्रतिज्ञा है कि जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करता है उसका आवश्यक व्यवहार भी मैं संचालन करता हूँ, परन्तु भक्तों के अनुभव भी भगवान् की इस प्रतिज्ञा को प्रमाणित करते हैं। इतने पर भी कोई भगवान् के भजन - पूजन - चिन्तन में न लगे तो उसका दुर्भाग्य ही है और क्या कहा जा सकता है।

अन्त में हमारा यही कहना है कि मन को तो प्रधान रूप से भगवान् के स्मरण में लगाओ और तन - धन को शास्त्रानुसार

व्यावहारिक कार्यों में लगाओ - लोक - परलोक दोनों उज्ज्वल रहेंगे।

x x x

४१

लोक - परलोक में सर्वत्र सुख - शान्ति चाहते हो तो सर्वशक्तिमान परमात्मा की शरण लो

*

मोक्ष तो मिलेगा ही, धन - धान्य व मान - प्रतिष्ठा भी मिलेगी।

यह न समझो कि परमात्मा के भजन से केवल मोक्ष ही मिलेगा - निश्चय रखो कि भगवान् के भजन से मोक्ष भी मिलेगा और धन - धान्य, मान - प्रतिष्ठा भी मिलेगी।

इसका कारण यह है कि भक्त भगवान् की उपासना करता है और भक्ति की पहली सीढ़ी 'श्रवण' दूसरी सीढ़ी 'कीर्तन' और तीसरी सीढ़ी 'स्मरण' को पार करके जब चौथी सीढ़ी में पहुँच कर 'पाद सेवन'

अर्थात् मन से निरन्तर भगवच्चरणों का ध्यान करता है तो अहर्निष भगवत्पाद - सेविनी लक्ष्मी को भय हो जाता है कि कहीं भगवान का प्रेम अपने इस भक्त पर अधिक न हो जाय।

स्त्री यह कभी नहीं चाहती कि उसका पति किसी दूसरे से प्रेम करे। इसलिये उस भक्त को भगवच्चिन्तन से हटाने

से लिये विघ्न रूप में लक्ष्मी उसे धन, यश, मान, प्रतिष्ठा देना प्रारम्भ करतो है जिससे वह इसी लौकिक जाल में पड़ जाय और भगवान् को छोड़ दे। इस प्रकार भगवान के भक्तों के पास लक्ष्मी विघ्न रूप में आती है।

आज आप जिसका इष्ट बुद्धि से चिन्तन करते हुए रात दिन परेशान हों और मारे - मारे भटकते हों वही रुपया - पैसा, मान - प्रतिष्ठा जबरदस्ती बिना आवाहन के आप के पास आयेगा, आप भगवान् की तरफ तो झुको।

गति - मुक्ति के लिये तो भगवान का भजन है ही, किन्तु लौकिक ऐश्वर्य चाहते हो तो भी भगवान् की शरण में आओ। साधक जब तप करता है तो देवराज इन्द्र का आसन डोल जाता है और वह तप में विघ्न करने के लिये नाना प्रकार के प्रलोभन सामने उपस्थित करता है इसी प्रकार भगवान का स्मरण छुटाने के लिये लक्ष्मी लौकिक

ऐश्वर्य सामने लाती है। जिस प्रकार जब कोई कुत्ता काटने को दौड़े तो रोटी का दुकड़ा फेंक दो, वह उसी में उलझ कर रह जाता है ; ठीक उसी प्रकार लक्ष्मी भी सोने का टुकड़ा फेंकती है कि जिससे वे भक्त मेरे पति भगवान् के निकट न आवें तो अच्छा है!

भगवान के स्मरण से गति - मुक्ति भी होगी और लक्ष्मी भी धक्का खाएगी। व्यापार ऐसा करो जिसमें अधिक लाभ हो।

(७४)

तात्पर्य कहने का यह है कि भगवान के भजन से सब कुछ हो जाता है। जब तुम सर्वशक्तिमान का ध्यान अपनी तरफ खींच लोगे तो तुम्हारे लिये क्या अप्राप्त रह सकता है। आजकल अपना घर छोड़ कर भी लोग सेठों के यहाँ धक्का खाते - फिरते हैं। उन्हें धनवान का विश्वास है ; परन्तु सर्वशक्तिमान का विश्वास नहीं है। तभी दरवाजे - दरवाजे वे ठोकर खाते हैं।

जिन्हें भगवान का विश्वास है उनके पीछे संसार आज भी धक्का खा रहा है। इसलिये जब किसी का स्तोत्र करना ही ह तो भगवान का ही स्तोत्र करो जिससे लोक - परलोक दोनों बने।

लौकिक वासना कम करो और परमात्मा में राग बढ़ाओ। मनुष्य शरीर का यही उपयोग है कि विचार करके उस रास्ते पर चलो जहाँ सब प्रकार की सुविधा मिले।

x x x

४२

मन को संसार में कोई नहीं चाहता

तन और धन से व्यवहार करो

मन परमात्मा में लगाओ

*

इष्ट मित्र कुटुम्बो आदि सब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति चाहते हैं। आप के मन को कोई नहीं चाहता! अपने पुत्र को लिखने - पढ़ने की सामग्री का प्रबन्ध मत करो और पास बैठा कर कहो कि बेटा हम मन से तुमको प्यार करते हैं, तो क्या वह संतुष्ट रहेगा? अपनी स्त्री की आवश्यकताओं की पूर्ति मत करो और उससे कहो कि हम हमेशा तुम्हारा स्मरण करते रहते हैं, मन से कभी तुमको नहीं भूलते, तो क्या वह संतुष्ट रहेगी?

इष्ट मित्र जो तुमसे व्यवहार में सहायता या सहयोग चाहते हैं उनको कुछ सहयोग न दो और कहो कि मन से हम आपको बहुत मानते हैं। वे यही कहेंगे कि अपना मन अपने पास रखिये, बन सके तो हमारा अमुक - अमुक कार्य कर दीजिये।

तात्पर्य यह कि संसार में कोई भी आप का मन नहीं चाहता। यहाँ सभी तुम्हारे तन और धन के ग्राहक हैं। मन तो तुम जबरदस्ती दूसरों के गले लगाते हो।

(७६)

स्मरण रखो कि जिस मन को संसार में कोई नहीं चाहता वही मन परमात्मा के निकट पहुँचने में काम आता है। इसलिये संसार के बाजार में तन और धन से व्यापार करो और परमात्मा के मार्ग में मन को लगाओ, तो संसार का व्यवहार भी नहीं बिगड़ेगा और परमार्थ का मार्ग भी साफ होता चलेगा।

जिसकी जहाँ जरूरत है उसको वहीं लगाना बुद्धिमानी है। मन को संसारी कार्यों में मत फँसाओ। मन का बहुत थोड़ा सहयोग देने से व्यवहार चलता जायगा। अधिक मन भीतर - भीतर परमात्मा में लगाओ।

जो संसार यहीं छूट जाने वाला है उसमें यहीं छूट जाने वाले तन और धन को लगाओ। जिस परमात्मा का कभी वियोग नहीं होना है उसमें सदा अपने साथ जाने वाले मन को लगाओ।

जैसा सौदा हो वैसा दाम चुकाओ। क्षणभंगुर सांसारिक व्यवहार में क्षणभंगुर तन और धन को ही लगाओ। मन तो सदा साथ रहने वाली

स्थायी चीज है, परलोक में भी साथ ही रहेगा। इसलिये इसके साथ स्थायी वस्तु का सम्बन्ध जोड़ो। परम स्थायी चराचर में रमा हुआ सर्व व्यापक सदा सर्वत्र विराजमान जो परमात्मा हैं उसके साथ मन का सम्बन्ध जोड़ो। परमात्मा ही मन के साथ सम्बन्ध कराने योग्य है।

(७७)

और कोई वस्तु संसार में ऐसी नहीं है जिसके साथ मन का सम्बन्ध जोड़कर मन को संतुष्ट किया जा सके।

आप लोगों को स्वयं अनुभव है कि मन को आप धन में, स्त्री में, पुत्र में या इष्ट मित्र में लगाते हैं। पर क्या कहीं पर मन स्थिर रहता है? एक स्थान में अधिक समय तक नहीं ठहरता। यदि मन को धन से संतोष हो जाय या पुत्र से संतोष हो जाय तो वह फिर दूसरी जगह क्यों जायगा। किन्तु मन कभी भी एक पदार्थ में नहीं टिकता ; यही इस बात का प्रमाण है कि मन को कोई भी सांसारिक पदार्थ अच्छे नहीं लगते। किसी पदार्थ को अच्छा मानकर उसके निकट जाता है ; परन्तु थोड़ी देर में उससे हट जाता है। इससे मालूम होता है कि कोई भी सांसारिक पदार्थ मन को संतुष्ट नहीं कर सकता।

इसलिये सिद्धान्त यही निकलता है कि संसार में मन को कोई नहीं चाहता और मन भी किसी संसारी वस्तु से संसुष्ट नहीं होता - तात्पर्य यह कि न मन संसार के योग्य है और न संसार मन के योग्य है।

मन जब परमात्मा को पा जाता है तो वहीं स्थिर हो जाता है, फिर कहीं किसी दूसरी वस्तु की इच्छा नहीं करता। इसलिये यही निश्चय होता है कि मन के योग्य परमात्मा ही है। अतः जो वस्तु जिसके योग्य हो उसको वहीं लगाओ।

X X X

४३

पतन से बचना चाहते हो तो पाप से बचो

और पुन्य को बढ़ाओ

*

जो शास्त्रानुकूल पुरुषार्थ है वही पुण्य है और वही अभ्युदय, लौकिक उन्नति और मोक्ष का देने वाला है।

जो काम जितने पुरुषार्थ से होने वाला है उतने ही पुरुषार्थ से होता है। जितने पुण्य से भवसागर से पार होते हैं उतने पुण्य के बिना पार होना संभव नहीं। किसी को एक सेर जल की प्यास लगी हो तो वह एक छटांक जल से कैसे बुझ सकती है!

धार्मिक ग्रंथों के पढ़ने से पुण्य अवश्य होता है। गीता, रामायण आदि का पाठ पुण्य - प्रद होता है। परन्तु केवल पाठ से इतना पुण्य संग्रह नहीं होता जो भवसागर से पार कर दे।

धार्मिक ग्रंथों के पाठ का खंडन यहाँ नहीँ कर रहे हैं। - पाठ तो करना चाहिये ; परन्तु पाठ करके ही अपना कर्त्तव्य समाप्त नहीं मान लेना चाहिये। जो उसमें लिखा है उसको कार्य रूप में लाने का प्रयत्न करना चाहिये, तभी उसका पूरा पूरा उपयोग माना जा सकता है और तभी विशेषरूप से पुण्य का संचय होगा। यदि पतन से बचना चाहते हो तो पाप से

बचो, शास्त्र - विरुद्ध पुरुषार्थ मत करो ; पाप से बचो और पुण्य करो -- यही उन्नति का प्रकार है।

X X X

४४

मन को संसार में लगाओ पर इतना ही कि

परमार्थ न बिगड़े

*

हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि आप लोग सब विरक्त बन कर व्यवहार छोड़ दो और भगवान् के भजन में लग जाओ। व्यवहार करो, परन्तु उसी प्रकार से करो कि जिससे व्यवहार भी भद्दा न हो और परमार्थ भी न बिगड़े। मन को संसार में लगाया और कहीं अधिक लगा दिया तो फिर रोजगार घाटे का हो जायगा।

जैसा लिफाफा हो वैसा ही गोंद लगाना चाहिये। किसी छोटे लिफाफे में ज्यादा गोंद लगा दी जाय तो गोंद से लिफाफा भी गन्दा हो जायगा और गोंद तो व्यर्थ जायगा ही।

मन तो गोंद के समान है, जहाँ लगाओ वहीं चिपक जाता है। व्यवहार में मन को विचार पूर्वक ही लगाना चाहिये। किस स्थान में मन को कितना लगाया जाय, यह अवश्य ही विचार कर लेना चाहिये। मूल बात यही है कि

व्यवहार में मन को कम लगाओ और परमार्थ में अधिक लगाओ।

व्यवहार में यह ध्यान रहे कि जहाँ तक हो सके शास्त्रानुकूल ही व्यवहार किया जाय और मन का बहुत थोड़ा अंश उसमें लगाया जाय। मन से भीतर - भीतर परमात्मा का चिन्तन करते लगोगे तो व्यवहार भी सुन्दर रहेगा और परमार्थ भी उज्ज्वल बनेगा।

x x x

४५

भगवान का भक्त दुखी नहीं रह सकता

*

हमने घोर जङ्गलों में वर्षों रहकर भगवान् की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता का अनुभव किया है। जहां कोई भी लौकिक प्रबन्ध नहीं होता, वहाँ भगवान् के भक्तों के लिये समय पर सब आवश्यक प्रबन्ध हो जाते हैं।

राज्कुमार भी अपने राज्य में किसी वस्तु का अभाव अनुभव कर सकता है? सर्व समर्थ भगवान् का भक्त त्रैलोक्य में कहीं भी रहेगा आनन्द से रहेगा। भला जो सर्वशक्तिमान् है वह अपने भक्त को दुःखी देख सकेगा!

अपनी श्रद्धा - भक्ति और विश्वास के द्वारा भगवान् के प्रति अनन्य होकर एक बार भगवान् की कृपा प्राप्त कर लेने की आवश्यकता है। फिर तो भगवान् स्वयं सब देख - भाल रखते हैं, उनसे प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जब पुत्र बीमार होता है तो वह पिता से प्रार्थना करे, तभी पिता उसकी चिकित्सा कराये - ऐसी बात नहीं है। पिता स्वयं ही अपने पुत्र को रोगी नहीं देख सकता, बिना कहे ही वह रोग को हटाने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जो भगवान् को अपनाकर उनके हो जाते हैं, जो एक बार भगवान की कृपा खींच लेते है, उनके लिये भगवान् बिना प्रार्थना किये ही सब कुछ करते रहते हैं। यह अनुभूत सत्य है कि भगवान् का भक्त कभी दुःखी नहीं रह सकता।

x x x

४६

कुटुम्बियों की अश्रद्धा होने के पहले ही

भगवान् की ओर झुक जाओ

*

निश्चय है कि वृद्धा - अवस्था में जब शरीर शिथिल हो जाता है और धन कमाने की शक्ति नहीं रह जाती तब कुटुम्बीजन और इष्ट मित्र भी उपेक्षा करने लगते हैं। भगवान्

(८२)

का सहारा लोगे तो फिर और किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। फिर चाहे सारा संसार विमुख हो जाय तो भी कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा।

और बात जो कुछ ऐसी है कि --

"**जापर कृपा राम की कोई।**
तापर कृपा करें सब कोई॥"

जिस पर भगवान की कृपा हो जाती है उसको सभी के द्‌वारा सहयोग मिलने लगता है ; क्योंकि भगवान तो सर्वशक्तिमान हैं। एक साधारण राजा जिस पर कृपा करने लगता है उसे राज्‌य भर के लोगों का सहयोग प्राप्त होने लगता है। इसी प्रकार जगन्नियन्ता सर्वशक्तिमान परमात्मा की ओर जो झुकता है, उसके अनुकूल जगत् की सारी शक्तियाँ बर्तने लगती हैं।

x x x

भगवान् की प्रतिज्ञा अपने भक्तों के लिये -

"मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ"

*

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए जो मनुष्य मेरी

उपासना करते हैं उनके लिये योग और क्षेम का प्रबन्ध मैं स्वयं करता हूँ अर्थात् उन्हें जो अप्राप्त रहता है उसकी प्राप्ति कराता हूँ (योग), और जो उन्हें प्राप्त है उसका रक्षण (क्षेम) मैं ही करता हूँ - यह सर्वशक्तिमान भगवान की प्रतिज्ञा है। इस पर विश्वास करके भगवान के भजन में लगाओ।

आजकल लोग साधारण मनुष्यों का तो विश्वास कर लेते हैं, परन्तु भगवान के शब्दों पर विश्वास नहीं करते। जो सब कुछ कर सकने में समर्थ परमात्मा है उसकी प्रतिज्ञा पर विश्वास करो तो लोक - परलोक दोनों उज्ज्वल बनेगा।

विचार करो कि तुम तो सदा तुच्छातितुच्छ वस्तुओं का चिन्तन करते रहते हो, खेती के लिये मल - मूत्र मय खाद का चिन्तन करते

हो, बन्दरों से वस्तु को बचाने के लिये कंटक को भजते हो तो जो मन कंटक और मल - मूत्र तक का चिन्तन करता है, वह यदि थोड़ी देर भगवान का भजन कर लेता है तो कोई बड़ी बात नहीं है -- बड़ी बात तो यह है कि जो पूर्ण काम सर्वशक्तिमान भगवान हैं वह अपने भक्तों का चिन्तन करने के लिये तैयार हैं।

इस पर भी यदि मनुष्य भगवान की तरफ न झुके तो सिवाय दुर्भाग्य के और क्या कहा जा सकता है।

x x x

४८

रात्रि में सोने से पहले कुछ जप और ध्यान अवश्य करें

*

प्रातःकाल और दिन में जो पूजन, जप, ध्यान, आदि करते हो सो तो ठीक ही है, किन्तु रात्रि में सोने से पहले १० - १५ मिनट अपने इष्ट मंत्र का जप और इष्ट मूर्ति का ध्यान अवश्य करना चाहिये। इससे उपासना में जल्दी उन्नति होती है।

अँधेरे में आँख बन्द करके बैठ जाना चाहिये और मंत्र का जप तथा नेत्र बंदकर मन से अपने इष्ट का ध्यान करना चाहिये। उनके सम्पूर्ण शरीर पर नहीं, चरण में या मस्तक पर (मुख - मंडल पर) देखना चाहिये कि हमारे इष्टदेव हमारी और करुणा भरी, दयाभरी दृष्टि से देख रहे हैं। इष्ट की दृष्टि ही अपने काम की होती है। अपने इष्ट को आंख बन्द किए हुए नहीं देखना चाहिये। इस प्रकार अपनी ओर दयाभरी दृष्टि से देखते हुए इष्ट का हदय में ध्यान करते हुए इष्ट मंत्र का जप करते रहना चाहिये। इससे इष्ट के प्रति दृढ़ता बढ़ेगी और यदि मन ने दृढ़ता के साथ इष्ट को पकड़ लिया तो अन्त में यही निष्ठाकाम आयेगी। इसी के बल पर संसार - सागर से पार हो जाओगे।

x x x

४९

इन्द्रियों के भोग - विलास में जो निमग्न रहता है

वह किसी काम का नहीं रह जाता

*

जितना सत्संग करो, उससे अधिक कुसंग को त्यागो

जिस भूमि से जल हमेशा बहता रहता है वह किसी काम की नहीं रह जाती। बहते हुए जल को रोक कर, बाँधकर, उस भूमि को बहुत उपजाऊ बना लेते हैं, उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियों में सदा विषयों का प्रवाह जारी रहता है वह बिल्कुल बेकाम हो जाता है, किसी काम का नहीं रहता - न वह अपना ही कुछ उत्थान कर सकता है और न दूसरों का ही उससे कुछ उपकार हो सकता है।

विषयोपभोग से विषय - चिन्तन अधिक हानिकर है। शास्त्रानुकूल मर्यादानुसार विषय - भोग किया जाय तो उससे उतनी हानि की शका नहीं होती। किन्तु यदि भाग - वासना से प्रेरित होकर मन को सदा विषय - चिन्तन में लगाये रहोगे तो अन्तःकरण दुर्बल पड़ जायगा और मानसिक शक्ति क्षीण होती जायगी, जीवन भार हो जायगा और लोक - परलोक कहीं के न रहोगे। इसलिये विषयों से बचो, परन्तु उससे अधिक मन को विषयों से बचाना आवश्यक है।

(८६)

"**मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।**"

मन यदि पराजित हो गया, मन पर यदि विषयों का कब्जा हो गया, तो जीवन ही विषयाधीन हो जायगा। विपयाधीन जीवन, परवश जीवन, दुःखद ही रहता है। यदि विषय मन के अधीन रहेगा तो विषयों को जीतने वाला मन, विजेता की भांति सदा आनन्द में रहता

है। इसलिये विजेता बनकर रहो, स्वतन्त्र रहो, स्वतन्त्रता में ही जीवन की सार्थकता है।

अतः जितना साक्षात् विषयों से बचो, उससे अधिक विषयों के चिन्तन से मन को बचाओ।

x x x

५०

मन की प्रवृत्ति जिधर होती है, वह स्वयं रास्ता निकाल लेता है

*

मन कों सदा पवित्र रखना आवश्यक है

सारी बात मन के ऊपर ही निर्भर है। मन जैसा चाहता है वैसा ही मनुष्य कार्य करता है। प्रवृत्त - निवृत्ति सब कुछ मन पर ही निर्भर है। विहित - अविहित कोई भी कैसा कार्‌य

हो, यदि मन ने करने का निश्चय कर लिया तो वह उसका रास्ता निकाल ही लेता है। मन जितना पवित्र होगा, प्रवृत्ति उतनी ही पवित्र

होगी और कार्य उतने ही बलशाली और स्थायी होंगे। मन जितना मलिन और अपवित्र होगा, प्रवृत्ति भी उतनी ही दूषित होगी और कार्य भी उतने स्वल्प प्रभावशाली तथा उतने ही अस्थायी महत्व के होंगे।

इसीलिये लौकिक और पारलौकिक सब प्रकार की उन्नति के लिये मन को पवित्र रखना और उसकी पवित्रता रखना और उसकी पवित्रता बढ़ाते रहना आवश्यक है। इसी के लिये सत्संग करना और कुसंग से बचना, नित्य स्वाध्याय करना, आहार शुद्धि का ध्यान रखना, भगवान् का भजन - पूजन व जप ध्यान करना, सत्य व अहिंसा आदि का पालन करना, सदाचार का पालन करना और अपने को सदा मर्यादा के अन्दर ही रखना आवश्यक है।

X X X

५१

राग ही सर्वनर्थ का मूल है

*

ज्ञानी में राग नहीं रहता, अज्ञानी में राग रहता है। ज्ञानी का व्यवहार राग रहित होकर प्रारब्धानुसार चलता है

और अज्ञानी का भी व्यवहार प्रारब्धानुसार ही चलता है ; पर उसका उसमें राग रहता है क्योंकि अज्ञानी का चिन्ह राग माना गया है। राग ही जन्म - मरण की शृंखला में जीव को बाँधे रहता है। राग न रहने से जीव मुक्त हो जाता है। तथा -

'वीतरागजन्मादर्शनात्'

यह रोग शास्त्र का सूत्र है - अर्थात् राग नष्ट हो जाने से फिर जन्म नहीं होता। इसलिये महाबन्धनकारी सर्वानर्थ के मूल 'राग' को हटाने का प्रयत्न करो। संसार से राग तभी हटेगा जब परमात्मा की ओर झुकगे।

x x x

५२

विघ्नों के भय से मार्ग नहीं छोड़ना चाहिये

गिरने का कोई भय नहीं, भगवान् रक्षा करेंगे

*

भगवान को जान लेने के बाद, फिर कोई वस्तु जानने योग्य नहीं रह जाती। एक बार भगवत्तत्व का रसास्वादन हो गया कि फिर वृत्ति

अन्यत्र कहीं विषयों में फँस नहीं सकती। कोई राजा कैसे दो गाँव की जमींदारी की इच्छा कर सकता है। जो आनन्द समुद्र में अवगाहन कर रहा है वह क्षणिका -

नन्द - विषयानन्द - के लिये कैसे इच्छा करेगा? लोग कहते हैं - 'अमुक महात्मा गिर गये, अमुक बड़े महर्षि गिर गये'। परन्तु छोटे - बड़े की पहचान क्या है? महात्मा कभी नहीं गिरे और न गिर ही सकते हैं -- गिरते हैं साधक लोग, जिन्हें अभी वस्तु की प्राप्ति नहीं हुई है। किन्तु जिन्हें भगवान् का साक्षात्कार हो गया है, उनकी वृत्ति कभी विषयानन्द के लिये लालायित नहीं हो सकती। महात्मापन और बड़ापन वृत्ति में होता है। किसी की निष्ठा को अन्य कोई नहीं जान सकता - तह स्वसंवेध्य विषय है।

भगवान् ने कहा है कि मेरी त्रिगुणात्मिका माया दुरत्यय है अर्थात पार करने के लिये कठिन है। परन्तु जो मेरी शरण आते है वे मेरी इस दुरत्यय माया को भी पार कर जाते है -

"**दैवी ह्येषाँ गुणमयी मम माया दुरत्यया।**
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

अतः विध्नों के भय से मार्ग नहीम् छोड़ना चाहिये। भगवान सब प्रकार से रक्षा करते हुए अपने समीप बुला लेते हैं। गिरने - गिराने का डर नहीं है, मार्ग पर चलते जाओ।

x x x

(९०)

५३

प्रवृत्ति को अशुभ से रोक कर शुभ में लगाना -

यही मुख्य पुरुषार्थ है

*

अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति न हो और शुभ कर्मों में ही प्रवृत्ति रहे -- यही मुख्य पुरुषर्थ है। अशुभ वासनायें उठें तो मन को जप, कीर्तन या स्वाध्याय तोत्र या भगवच्चरित पाठ आदि में लगा देना चाहिये। यहीं उपनिषद का सिद्धन्त है -

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ति वासना सरित।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभो पथि॥

--मुक्तिकोपनिषत्।

वासना रूपी नदी शुभ और अशुभ दो मार्गों से बहती है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा प्रयत्न करके उसे शुभ मार्ग में ही बहाना चाहिये। पुरुषार्थ का स्वरूप यही है कि जब कोई अशुभ वासना उठे तो मन को दुसरे तरफ लगाओ या फिर उस कार्य को टालने का प्रयत्न करो। अभी थोड़ी देर में कर लेंगे, फिर कर लेंगे, कल कर लेंगे - इस प्रकार मन को समझाते हुए कुछ समय बिता दो तो वह वासना अवश्य ही शिथिल पड़ जायगी। यदि कोई शुभ वासना मन में उठे तो जल्दी से जल्दी उसमें प्रवृक्त होने का यत्न करो। हो सके तो कुछ न कुछ उसी समय कार्यारम्भ कर दो।

(९१)

अशुभ वासनायें मन में उठे तो उन्हें रोकना और किसी तरह उसमें प्रवृत्त न होना और शुभवासना उठें तो यथाशीघ्र प्रवृत्त होने का प्रयत्न करना, यही पुरुषार्थ है।

x x x

५४

परमात्मा से विमुख हो रहे हों -

इसी से नाना प्रकार की विपत्तियाँ आ रही हैं

*

जिसके राज्य में रहो उसका नियम पालन करने से ही सुख - शान्ति पूर्वक रह सकते हो। राजा की आज्ञा का उल्लंधन करोगे तो दण्ड अवश्य मिलेगा। समस्त ब्रह्माण्ड का स्वामी ब्रह्माण्डनायक परमात्मा ही है। उसकी इच्छा के विरुद्ध आचरण करोगे तो दण्ड के भागी बनोगे। आजकल लोग परमात्मा से विमुख हो रहे हैं इसी से अशान्ति, असंतोष और दुःख दिनोंदिन बड़ते ही जा रहे हैं।

ईश्वरीय नियम सब के लिये समान रूप से कल्याणकारी है। जो जितनी उत्तमता से उनका पालन करता है उसको उतनी ही अधिक सुख - शान्ति का अनुभव होता है। वेदशास्त्र ही सर्व कल्याणकारी पर्मात्मा का विधान है। उसी का पालन करने से सर्वविधि उन्नति सम्भव है। वेदशास्त्रों में ऐसे

ही नियमों का उल्लेख है जिनके पालन से मनुष्य अपनी शक्ति, सामर्थ्य, ज्ञान और आनन्द की इतनी वृद्धि कर सकता है कि जिसका कोई अन्त नहीं।

जब तुम हीरे का व्यापार कर सकते हो तो कोयले की दलाली करके क्यों हाथ काला करते हो? जब तुम परमात्मा की विधिवत् आराधना करके अनन्त आनन्द की प्राप्ति कर सकते हो तो इस क्षणभंगुर इन्द्रिय सुखों के साधन संग्रह करने में क्योम् अहर्निश परेशान हो?

थोड़ा विचार - शक्ति से काम लो ;काल के प्रवाह में आँख बन्द करके मत वह चलो। दिन - रात तो अपने समय पर बीतते जायेंगे, परन्तु तुम्हें एक - एक क्षण का दुरुपयोग करके अपनी उन्नति करनी है। अतः परमात्मपरायण रह कर स्वधर्मानुकूल आचरण करो - यही सर्वोन्नति का मार्ग है।

X X X

५५

प्रारब्ध से पुरुषार्थ बलवान् है

*

पिछला किया हुआ पुरुषार्थ ही आज तुम्हारे सामने प्रारब्ध बनकर आ रहा है। बासी पुरुषार्थ ही ताजा प्रारब्ध है। यदि आज कुछ बनाकर रख लोगे तभी तो कल के लिये वह बासी होगा। जो चीज आज बनाओगे वही कल तुम्हारे सामने आयेगी ; जो पहले बनाया है वही आज सामने आ रहा है और जो आज बनाओगे वही भविष्य में सामने आयेगा। आज जो सुख - दुख सामने आ रहा है वह पूर्व के शुभाशुभ कर्मों का ही फल है। अब ऐसा करो कि भविष्य के लिये दुःख की सामग्री न तैयार हो। यह निश्चय है कि जो कर्म करोगे उसका फल भोगना ही पड़ेगा। विहित कर्मों, शुभ कर्म करोगे तो

उसका फल सुख होगा और अविहिताचरण करोगे तो परिणाम में दुःख सामने आयेगा।

यदि चाहते हो कि आगे प्रारब्ध अच्छा बने तो इस समय अपने पुरुषार्थ को संभालो, उत्तम कार्य करो। किसके लिये क्या उत्तम है, यह शास्त्र - दृष्टि से निश्चय करो। अपने अधिकारानुसार शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहोगे तो वर्तमान में

शान्ति - सन्तोष की वृद्धि होगी और भविष्य के लिये उत्तम प्रारब्ध का निर्माण होगा।

इस समय जो शुभाशुभ तुम्हारे सामने आ रहा है वह निश्चय ही तुम्हारा प्रारब्ध है जो भोग रूप में उपस्थित है। परन्तु ऐसा नहीं कि जो आये सब भोगते जाओ। प्रारब्ध को भी विचार पूर्वक ही भोगना उचित है। यदि मद्य - मांस सामने आये तो उसे किसी पुराने पाप - कर्म का फल समझ कर विवेक के द्वारा उसे हटाओ, उसे मत स्वीकार करो और उस पाप - फल को जप - तप के द्वारा नष्ट करो।

सिद्धान्त है कि 'जपतो नास्ति पातकम्'

जप करने से पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये विहित प्रारब्ध को भोगो और अविहित को जप - तप से नष्ट करो। इस प्रकार विवेक से

व्यवहार करोगे तो तरक्की करते जाओगे और यदि व्यवहार में सतर्क न रहे तो कूकर - शूकर की तरह कीचड़ में नीचे गिर जाओगे।

x x x

५६

त्यागी और उदार तो बहुत हैं

किन्तु रागी और कृपण बनने का प्रयत्न करो

*

सबसे बड़ा त्यागी वही माना जा सकता है जिसने सबसे बड़ी वस्तु का त्याग किया हो। संसार में सबसे बड़ी वस्तु परमात्मा है। परमात्मा को जो त्यागे बैठे हैं, भगवान् से जो विमुख हैं, वे हो सबसे बड़े त्यागी हैं। उदार उसको कहा जाता है जो दूसरे के लिये कार्य करता है और कृपण वह है जो अपने लिये ही करता है। जो कमाई कर करके सब अपने नाम से बैंकों में इकट्ठा करता जाता है वही कृपण कहलाता है।

सच्चा रागी वह् है जिसकी वृत्ति रागास्पद पदार्थ से हटती नहीं है। मन जहाँ लगा है वहाँ से उठे नहीं, यही राग का लक्षण है। ऐसा राग तो परम रागास्पद पदार्थ परमात्मा में ही होता है। जिसका मन भगवान में लग गया हो और फिर वहाँ से उसका वृत्यन्तर न होता हो

--- वही सच्चा रागी है, ऐसे रागी बनो। संसार के त्याग की आवश्यकता नहीं है, परमात्मा के प्रति राग बड़ाओ और सच्चे रागी बनो।

(९६)

जो लोग हमेशा संसारी कार्यों में ही लगे रहते हैं वे ही वास्तव में उदार हैं, क्योंकि उन्होंने जो किया वह सब दूसरों के काम आयेगा, उन्के साथ कुछ नहीं जायगा। और जो लोग दान, धर्म, जप, तप, आदि करके पुण्य संग्रह करते हैं वे ही ' वास्तव में कृपण ' कहे जा सकते हैं। क्योंकि यहाँ जो कुछ वे कर रहे हैं उसका सब फल वे अपने नाम 'पार्सल' किये दे रहे हैं। आगे उन्हें ही वह प्राप्त होगा - और दूसरे को नहीं। इस प्रकार पुण्यात्मा लोगों को ही वास्तव में कृपण कहा जा सकता है। ऐसे कृपण बनो तो लोक में भी यश होगा और परलोक में भी उत्तम गति प्राप्त होगी, यही वेद शास्त्र का सिद्धान्त है।

X X X

९७

एक भगवान् को मजबूती से पकड़ो

तो अनेक की खुशामद नहीं करनी पड़ेगी

*

अपना प्रधान - इष्ट सर्व - समर्थ सुख - स्वरूप भगवान् को बनाओ और उनके प्रति अनन्यता का भाव रखो तो कभी भी किसी वस्तु की कमी नहीं रहेगी। एक को मजबूती से पकड़ लो तो अनेक की खुशामद करने से बच जाओगे, नहीं तो

लावारसी कुत्ते की तरह दरवाजे - दरवाजे पूंछ हिलाते फिरोगे और अपना अमूल्य जीवन भोजन - वस्त्र में ही समाप्त कर दोगे। लावारिस कुत्ता रोटी तो कहीं - कहीं पाता भी है, पर डंडे सब जगह खाता है। जिसने अपना कोई इष्ट नहीं बनाया वह हर समय अनाथ सा ही रहता है, उसे चाहे धन - दौलत कितनी भी मिल जाय।

इष्ट के प्रति अनन्य होने का तात्पर्य यह है कि इष्ट की आराधना के समय में यदि कोई व्यावहारिक कार्य आ जाय तो उसकी उपेक्षा कर दो, पर आराधना से उठो मत। अपने जीवन में परमार्थ को मुख्य और व्यवहार को गौड़ समझो। भगवान् की प्रतिज्ञा पर विश्वास करो तो संसार और परलोक दोनों में ही सिर ऊँचा रहेगा।

"**नन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।**
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥"

अर्थात् जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हैं उनके लिये योग (अप्राप्त की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु का रक्षण) मैं करता हूँ --- यह भगवान् की प्रतिज्ञा है। इस पर विश्वास करके सदा के लिये सुखी हो जाओ।

x x x

(९८)

५८

संसार जैसा है वैसा ही पड़ा रहेगा

जब तक यहाँ हो अपना काम बना लो

*

बड़े - बड़े प्रतापी और पुरुषार्थशील महारथी हुये, पर सब काल - कवल हो गये, आज किसी का पता नहीं। पर यह संसार ज्यों का त्यों प्रवाह रूप से चला जा रहा है। बुद्धिमानी इसी में है कि जब तक यहाँ हो तब तक अपना काम बना लो। अपने जीवन का लक्ष्य जो सचिदानन्दमय परमात्मा की प्राप्ति है, उसे किसी प्रकार पूरा करने का प्रयत्न करो। संसार के चक्कर में अधिक मत रहो, क्योंकि यह जैसा है वैसा ही चलेगा, व्यर्थ में मृग - तृष्णा बड़ाकर अपने हाथों से अपनी होली मत जलाओ।

अपने घर की सफाई न करके औरों के मकानों में झाड़ू देते फिरो तो यह कहाँ की बुद्धिमानी है। पहले अपना काम बना लो, फिर औरों के काम में मदद करो। पहले वह पूरा कर लो जिसके लिये संसार में आये हो। अपना काम न किया और दूसरों के चक्कर में अपना समय व्यर्थ खोते रहे तो अन्त में पछताना ही पड़ेगा। बुद्धिमानी वही है कि जिससे लोक और परलोक दोनों उत्तम बने। यह तभी होगा जब परमार्थ

को अपने जीवन का मुख्य कार्य मानोगे। परमार्थ को मुख्य मानो और गौड़ रूप से संसार का शिष्टाचार चलाओ। समय से भजन, पूजन, ध्यान, आराधन करो और मन से उसे ही अपना मुख्य कार्य मानों। उससे समय निकालकर संसार का शिष्टाचार निबाहो तो कुछ काम बनेगा, नहीं तो धोखा ही धोखा है

x x x

५९

मनुष्य - जन्म दुर्लभ है, इसे सार्थक बनाओ

.

अभी तक जो हुआ सो हुआ

अब आगे चेत जाओ

*

हीरे को साग के भाव न बेचो

*

चौरासी लक्ष योनियाँ भोगने के बाद यह दुर्लभ मनुष्य - शरीर प्राप्त हुआ है ; इसे व्यर्थ न जाने दो। जीवन का एक - एक क्षण बहुत मूल्यवान है। यदि इसकी कीमत नहीं समझी? तो फिर सिवाय रोने के और कुछ हाथ नहीं रहेगा।

मनुष्य हो, इसलिये विहिताविहित को विचारने की

शक्ति है और बड़ा से बड़ा पुरुषार्थ कर सकते हो। अपने को कमजोर और गिरा हुआ मत मानो। अभी तक जो हुआ, उसे समझ लो कि अनजान में हुआ। पर अब सावधान हो जाओ, मनुष्योचित कर्तव्य - पालन में लग जाओ। तुम स्वयं समझते हो कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है। अच्छे को अपनाओ और बुरे को छोड़ो।

मनुष्य होकर यदि परमात्मा को न जान पाये तो समझ लो कि हीरे को साग के भाव बेच दिया। परमात्मा के लिये परमात्मा की उपासना नहीं की जाती। अपनी दुःख निवृत्ति, अशान्ति निवृत्ति ; अज्ञानता और अल्पशक्ति की निवृत्ति के लिये ही परमात्मा की उपासना की जाती है। परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है और अनन्तानन्दमय है। उपासना द्वारा उसकी अनन्त शक्ति पर कब्जा किया जाता है। इस महान् कार्य की सम्पन्नता में ही मनुष्य - जीवन की सार्थकता है। यदि इस ओर कुछ प्रयत्न नहीं हो रहा है तो समझ लो कि घोखे में पड़े हो।

x x x

६०

शक्ति चाहते हो तो शक्ति के केन्द्र से संबंध जोड़ो

*

दुःख - सागर संसार में सुख की भावना करना भूल है

*

अनन्त शक्ति के स्तोत परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ो, तभी अन्तःकरण की गरीबी मिटेगी। संसार जानने की वस्तु नहीं, भुलाने

की वस्तु है। इस दुःख - सागर कों जितना जानने का प्रयत्न करोगे उतना ही अधिकाधिक दुःख में डूबते जाओगे। संसार को जान कर सुख - शान्ति को आशा करना अँधेरे को अँधेरे से ढूंढकर प्रकाश पाने की इच्छा करना है।

संसार दुःख का सागर है। इस दुःख - सागर के सहारे सुखी होना चाहो तो असंभव है। संसार में प्रेम करना ही दुःख का बीज वपन करना है।

'**यत्र स्नेही तत्व दुःख स्नेहोदुःखस्य भाजनम्।**'

संसार में प्रेम मत करो, यही केवल व्यवहार चलाना चाहिये।

संसार में व्यवहार ऐसा करो जैसा शत्रु के साथ व्यवहार करते हो। शत्रु जब दरवाजे पर आता है तब मित्र से अधिक उकसा स्वागत किया जाता है, क्योंकि मित्र तो शिष्टाचार को कमी को नोट नहीं करता पर शत्रु थोड़ि भी

कभी को बहुत नोट करता है। इसलिये शत्रु का अधिक शिष्टाचार करना होता है। इसी प्रकार संसार में अच्छी तरह से शिष्टाचार करते चलो, पर भीतर से यही समझो कि यह शत्रु ही है। कहीं ऐसा न हो कि इसमें मित्र की भावना बनालो। संसार में इष्ट बुद्धि हुई तो बड़ा लम्बा धोखा होगा। इसको बहुत जानने का प्रयत्न मत करो।

x x x

६१

जिनके लिए हाव - हाव करके मारे - मारे फिरते हो

वे ही जवाब देते हैं

*

निश्चय रखना चाहिये कि संसार से हमें जाना अवश्य है और सब कुछ यहीं छोड़ कर जाना होगा ; साथ में कुछ नहीं जायगा यह भी निश्चित है। जब साथ में कुछ ले नहीं जाना है तो जब तक यहाँ रहो निश्चिन्तता से रहो। व्यर्थ की चिन्तायें बना कर अशान्ति मत भोगो।

अपने जीवन - निर्वाह के लिये तो निश्चित ही रहना चाहिये, क्योंकि जो प्रारब्ध - भोग है वह तो अवश्य ही आयेगा - वह स्वयं हमें ढूँढ़ लेगा - उसके लिये चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है। और यदि दूसरों के लिये चिन्ता

करते हो तो विचार करके देख लो कि जिनके लिये हाव - हाव करके मारे - मारे फिरते हो वे ही मौके पर जबाब दे देते हैं।

संसार में बने के साथी सब हो जाते हैं - 'बने के साले सब बन जाते हैं बिगड़े का बहनोई कोई नहीं बनता' - महर्षि वाल्मीक का पहले का नाम मार्कंण्डेय था। वे यात्रियों को लूट - मार कर अपने कुटुम्ब का भरण - पोषण करते थे। एक बार कुछ ऋषी गण वहाँ से निकले। मार्कण्डेय ने उन पर भी छापा मारा। ऋषियों ने कहा कि हम भागेंगे नहीं, पर अपने घरवालों से यह पूछ आओ कि यह जो तुम दूसरों को लूटमार कर पाप कमाते हो वे इस पाप को भी बटायेंगे या नहीं? क्या वे केवल धन ही चाहते हैं? मार्कण्डेय ने जाकर कुटुम्बियों से पूछा। सबने कह किया कि हम तुम्हारा पाप नहीं लेंगे - हम तो धन चाहते हैं, तुम यदि पाप करके धन लाते हो उस पाप के भागी तुम्हीं होगे। कुटुम्बियों का यह उत्तर पाकर मार्कण्डेय को समझ आ गई उन्होंने निश्चय किया कि -

"अभी तक जो भूल हुई सो हुई, अब संभाल जाना चाहिये। जीवन का थोड़ा सा समय है, उसे व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये।"

उसी समय मार्कण्डेय ऋषियों के उपदेशानुसार राम - राम (मरा - मरा) कहते हुये एक आसन से बैठ गये और भगवान् के भजन में इतने तल्लीन हो गये कि उनके ऊपर दीमकों ने

बमीठे बना लिए। बाद में जब वे उन बमीठों (बल्मीक) से बाहर लाए गए तो उनका नाम बाल्मीक पड़ा - "बल्मीकोद्यवः बाल्मीकः।"

तात्पर्य कहने का यह कि संसार में दूसरों के लिए जितना हाव - हाव करके अनर्थ सम्पादन करते हो इससे लोक - परलोक दोनों बिगड़ता है। इसलिए सच्चाई के साथ व्यवहार करते हुए शान्ति के साथ भगवान् का भजन करते हुए समय को बिताओ, यही बुद्धिमानी है।

x x x

६२

होली में गाली व रंग - गुलाल क्यों?

*

आज होली का समय है। यह जान लेना चाहिए कि यह क्या चीज है। प्रहलाद की फुआ अर्थात् हिरण्यकश्यपु की बहन का नाम दूँढ़ा था (उसे होलिका भी कहते हैं)। उसने तपस्या करके यह वर प्राप्त कर लिया था कि जिसे वह गोद में लेकर अग्नि में बैठ जायगी वह जल जायगा। जब हिरण्यकश्यपु प्रहलाद को कष्ट देते - देते थक गया और प्रहलाद को कुछ भी दुःख न दे सका - पहड़ों से नीचे गिराया तो भी प्रहलाद हँसते रहे, जल में डुबाया तो भी प्रहलाद प्रफुल्लित निकले,

अग्नि में डाल दिया तो भी जले नहीं। इस प्रकार जब हिरण्यकश्यपु सब - कुछ करके हार गया और प्रहलाद ने भगवद्‌वभजन नहीं छोड़ा तो ढूँढ़ा ने कहा कि लाओ हम उसे भस्म कर देते हैं। ढुँढ़ा प्रहलाद को गोद में लेकर बैठ गई। चारों ओर से अग्नि लगाई गई। प्रहलाद की भक्ति का प्रभाव हुआ कि ढुँढ़ा जल गई और प्रहलाद हँसते हुए अग्नि से बाहर आ गये।

होली के अवसर पर जो लोग गालियाँ बकते हैं, अश्लील शब्द कहते हैं, वह सब ढुँढ़ा (होलिका) के लिए गाली है। ये गंदे शब्द ही उस दैत्या के लिए स्तोत्र के सामने हैं ; क्योंकि आसुरी शक्ति ऐसे ही शब्दों से प्रसन्न होती है। इनके द्‌वारा लोक में ढुँढ़ा की निष्ठा को जाग्रत रख कर यह स्मरण किया जाता है कि अग्नि आदि तत्वों कों अपने वश में रखने बाली ढुँढ़ा के समान कोई भी कैसा भी शक्तिशाली क्यों न हो, किन्तु जब वह भगवद्भक्त के विरुद्ध उठता है तब उसी की वह शक्ति उसके विरुद्ध होकर उसका संहार करके भक्त की रक्षा करती है। यही होली के अवसर पर (होकिका - दहन के समय) गालियाँ बकने का रहस्य है।

होली के दिन जो रंग - गुलाल आदि के द्‌वारा व्यवहार होता है वह प्रसन्नता का द्‌योतक है। परस्पर मिल - भेंट कर इस बात की खुशी मनाई जाती है कि आज के ही दिन

भगवदभक्त प्रहलाद को कष्ट देने वाली आसुरी शक्ति स्वयं ही भस्म हो गई थी। "भक्त प्रहलाद से द्रोह करने वाली राक्षसी के भस्म होने की खुशी मनाई जाती है " - यही होली का माहात्म्य है।

x x x

६३

महा असुर हिरण्यकश्यपु के पुत्र प्रहलाद

क्यों भक्त उत्पन्न हुए?

*

एक समय देवताओं के साथ युद्ध में पराजित होकर हिरण्यकश्यपु शक्ति संचय करने के उद्देश्य से तपस्या करने के लिये बन में चला गया। उसकी पत्नी उस समय गर्भिणी थी। इन्द्र ने सोचा कि हिरण्यकश्यपु का पुत्र उससे भी अधिक बलवान् होगा और देवताओं को अधिक परेशान किया करेगा, इसलिये उत्पन्न होते ही उसका बध कर देना ठीक रहेगा। इसी लक्ष्य से हिरण्यकश्यपु की गर्भवती स्त्री को इन्द्र अपने यहाँ उठा ले चला। मार्ग में वह विलाप करती हुई जा रही थी, नारद जी मिल गये। उन्होंने पूछा कि इस अबला को कहाँ लिये जाते हो, क्या उद्देश्य है? इन्द्र ने बताया कि यह हिरण्अकश्यपु की स्त्री है, गर्भवती है, इसके गर्भ से उत्पन्न बालक को तुरन्त मार कर देवताओं का कण्टक दूर करने के

लक्ष्य से इसे अपने लोक में ले जा रहा हूँ। नारद ने कहा कि इसके गर्भ से भगवदभक्त उत्पन्न होगा और अजेय होगा, तुम इसे छोड़ दो। नारद के ये वचन सुन कर इन्द्र उसे छोड़ कर चला गया। नारद उसे अपने आश्रम में ले आये और नित्य उसे भगवान की भक्ति - गाथायें सुनाते रहे।

गर्भवती स्त्री जो बातें सुनती है या जो दृश्य आदि देखती है और जिस वातावरण में वह रहती है, उसका असर गर्भस्थ बालक पर पढ़ता है। प्रहलाद जब पढ़ने जाते थे तो अपने सहपाठियों को ज्ञान - ध्यान की बातें और भगवान की बातें सुनाते थे। उनसे उन लोगों ने पूछा कि आप तो हमारे साथ ही पढ़ते हो, ये बातें तो यहाँ बताई नहीं जातीं और घर में भी दैत्यों के आस - पास ही आप रहते हो, वहाँ भी इस प्रकार की शिक्षा पाने का कोई अवसर नहीं मिलता होगा तो ये सब अच्छी - अच्छी बातें आप को मालूम कैसे हुई जो आप हम लोगों को सुनाते हो?

प्रहलाद ने अपने गर्भकाल की बातें बताईं कि इस प्रकार हमारी माता नारद के आश्रम में पहुँचीं और वहाँ महर्षि नारद उन्हें नित्य ही भगवान की गाथायें जब सुनाया करते थे तो हम माता के गर्भ में सुब सुना करते थे। वहाँ से आने के बाद दैत्यों के बातावरण में माता तो

वह सब भूल गई, पर हमको सब याद हैं। वनी हम तुम लोगों को सुनाते हैं।

(१०८)

दैत्यराज महा असुर हिरण्यकश्यपु का पुत्र गर्भावस्था में सत्संग की बातें सुन कर भक्तराज पैदा हुआ। आज भी गर्भवती माताओं को उत्तम धार्मिक भक्तिमान वातावरण में रखा जाय, भगवान् की अच्छी - अच्छी धार्मिक बातें उनको सुनाई जायें तो आज भी भारत में ध्रुव - प्रहलाद उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु आजकल तो सिनेमाओं और गन्दी पुस्तकों के पढ़ने से फुरसत ही नहीं मिलती। यही कारण है कि उत्पाती और चरित्रहीन सन्तानें पैदा होती हैं और उनके माता - पिता जन्मभर रोते हैं। गर्भवती स्त्री के संस्कार ही गर्भस्थ बालक के संस्कार बनते हैं और वैसी ही उसकी निष्ठा बनती है। पशु के समान सन्तान पैदा कर देना और बात है, किन्तु यदि उत्तम् विचारशील चरित्रवान् सन्तान चाहते हो तो गर्भकाल में स्त्री को पवित्र वातावरण में रखो। विधिपूर्वक गर्भाधान संस्कार के बाद स्त्री को रजोगुणी - तमोगुणी पदार्थों से बचाओ। गर्भिणी स्त्री की उत्तम भावनायें ही गर्भस्थ बालक के उत्तम संस्कारवान होने का कारण है।

प्रहलाद को यह पुष्ट था कि भगवान् सर्वत्र हैं। उन्हें सर्वत्र परमात्मा का ज्ञान था। जहाँ वे देखते थे अपने इष्ट को ही देखते थे। प्रहलाद को निर्विवाद पुष्ट था कि सर्वत्र परमात्मा है। जल, थल, अग्नि में सर्वत्र

वे अपने राम को देखते थे। यही कारण था कि जल, अग्नि आदि तत्त्व उन्हें

कष्ट नहीं पहुँचा सके --- यह थी भारत के एक पाँच वर्ष की निष्ठा। भारतीय यदि अपने सिद्धान्तों पर आ जायें तो फिर त्रैलोक्य में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जो उन्हें कष्ट से सके। परन्तु अपने घर की बात भूल कर सब दरिद्र हो रहे हैं। सर्वशाक्तिमान परमात्मा जब अपने अनुकूल हो जाते हैं तो प्रकृति की समस्त शक्तियाँ अपने अनुकूल हो जाती हैं। प्रहलाद को जिस तत्त्व के द्वारा कष्ट देने का प्रयत्न किया जाता था, वही तत्त्व उनके अनुकूल हो जाता था। प्रहलाद को जब अग्नि में डाला गया तो वे हण्सते हुए कहते हैं ---

"**रामनामजपतां कुतो भयं**
सर्वतापशमनैकभेषजम्,
पश्य तात ममगान्नसन्निधौ
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥"

अर्थात् -- राम - राम जपने वाले को कहाँ भय है? यह (राम - नाम) तो समस्त तापों के (दुःखों के) निवारण की एक औषधि है। हे पिता! देखो मेरे शरीर के पास इस समय अग्नि भी जल का काम कर रही है, अर्थात् ठंडी हो गई है।

बात यह है कि जब तक हम अपने इष्ट को एकदेशीय डिबिया में बन्द करके रखे रहेंगे तब तक जो चाहे हमें दुःख देता रहेगा और अपाहिज की तरह हमें उसके सहन करने के

अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। सर्वत्र व्यापक अपने इष्ट को देखने लगो तो जा समीप आयेगा वह इष्ट बनकर, सहयोगी बन कर आयेगा। यही सिद्धान्त है कि जो जैसा होता है उसके समीप आने वाला भी वैसा ही हो जाता है, यदि निष्ठा पक्की है तो।

योगशास्त्र - कर्ता पतंजलि ने यही लिखा है कि -

"**अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।**"

जिसकी अहिंसा की निष्ठा पुष्ट है उसके निकट सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक पशु भी अपना हिंसक स्वभाव त्याग कर अहिंसक हो जाते हैं। पर हमारा आधार पुष्ट होना चाहिये, परमात्मा का भरोसा पक्का होना चाहिये। ऐसा नहीं कि जिसके हाथ में माटी का लोआ देखा उसी के पीछे हो लिये। धोबी का कुत्ता, न घर का होता है न घाट का। विचार से काम लेना चाहिये, उदर - परायणता से पीछे अपना सर्वस्व गँवा सेना ठीक नहीं। उदर - परायणता तो पशु - पक्षी, कीट - पतंगादि योनियों में भी रहती है। मनुष्य होकर भी यदि उदर - परायण रहे तो मनुष्य - योनि की विशेषता ही क्या? भारतीयों ने पेट

को कभी प्रधान नहीं माना। यहाँ आध्यात्म की ही प्रधानता सदा स्वीकार की गई है। महर्षि लोग कन्द - मूल फल खाकर, जल पीकर रहते थे, परन्तु चक्रवर्तियों को भी अपने इशारे पर चलाने का बल रखते थे। हलुवा - पूड़ी, रबड़ी - मलाई

खिलाने वाले भक्त लोग उस समय भी रहे होंगे, परन्तु वे समझते थे कि इन लोगों का दिया दुआ यदि हलुवा - पूड़ी खायेंगे तो बुद्धि भ्रष्ट हो जायगी और पतन हो जायगा। जब भीष्म ऐसे व्यक्तियों की बुद्धि मलिन धान्य खाने से भ्रष्ट हो गई, तो आजकल के लोगों की बात ही क्या! इसलिये बुद्धि की शुद्धि के लिये धान्य शुद्धि पर सदा विचार रखना चाहिये और भगवान् का सहारा लेकर सतोगुणी वृत्ति से जीवन - यापन करने का प्रयत्न करना चाहिये।

X X X

६४

दीन बनकर दीनदयालु की दयालुता

का लाभ उठाओ

*

भगवान् दीनदयालु हैं। जो दीन है उस पर भगवान दया करते हैं। मनुष्य दीन या तो उपासना के द्वारा भगवान को प्रसन्न करने की चेष्टा करे या स्वधर्मानुष्ठान करते हुए अपने कर्म रूपी फूलों से भगवान् की पूजा करे। कर्म और उपासना कुछ न बन पड़े तो कम से कम दीन ही बन जाय। दीन कौन है? जिसके लिए संसार में कोई भी आधार नहीं है वही दीन है। सर्वथा निराधार के आधार भगवान् होते हैं। यही उनकी

दयालुता है। जिसका संसार से राग सर्वथा हट गया है - स्त्री, पुत्र, धन, इष्ट - मित्र आदि किसी का भी जिसको सहारा नहीं रह गया है - ऐसे सर्वथा निस्सहाय निराधार के आधार दीनबन्धु दीनदयालु जगदाधार परमात्मा है। द्रौपदी चीर - हरण के समय दीन हो गई थी, कोई भी उसका रक्षक नहीं रह गया था। ऐसी दीनावस्था में जब उसने भगवान् को पुकारा तो दीनबन्धु भगवान् ने उसकी रक्षा की। कर्म का फल तो सबको भोगना पड़ता है ; परन्तु दीन को कुछ ऐसा विशेषा - धिककार मिल जाता है कि उसको पाप का फल प्रायः नहीं भोगना पड़ता। इसलिये कुछ न कर सको तो कम से कम दीन तो बन जाओ।

जब मनुष्य दीन हो जाता है तब उसे संसार ऐसा लगता है जैसा मदारी का रुपया। लाखों रुपये का ढेर लगा हो और कह दिया जाय

कि यह मदारी का रुपया है तो यदि कोई कैसा भी लालची - लोभी हो तो भी उसकी दृष्टि उसे रुपये के प्रति नहीं जाती। इसी प्रकार जो दीन हो जाता है वह संसार में किसी भी वस्तु के प्रति राग नहीं रखता। संसार से सर्वथा राग रहित होकर जब मनुष्य दीनावस्था में भगवान् को पुकारता है तब वह दीनबन्धु भगवान् की दयालुता का पात्र होता है। बस, दीन बनने की देर है, दीनदयाल तो तुम्हें उठाने के लिये तैय्यार ही हैं।

(११३)

सत्संग न होने के कारण भगवान के दीनदयाल स्वभाव से भी लोग फायदा नहीं उठा पाते। लोगों को जो कुछ सत्संग मिलता भी है उसकी बातें उनके अन्तःकरण में टिकती ही नहीं। कारण यह है कि आहार - शुद्धि की कमी है।

जिस प्रकार भोजन के देखने मात्र से क्षुधा की निवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार भगवान के केवल नाम माहात्म्य के पाठ से सुख - शान्ति नहीं मिल सकती। आज - कल गीता का पाठ करने का बड़ा प्रचार है। इस पाठ मात्र से पुण्य तो अवश्य होगा किन्तु पूर्ण सुख - शान्ति की प्राप्ति केवल ऐसे पाठ मात्र से सम्भव नहीं। एक भी श्लोक गीता का मान लिया जाय या एक श्लोक का एक चरण भी मनुष्य मान ले तो उसका कल्याण हो सकता है।

X X X

६५

स्वधर्म पालन और भगवान् का स्मरण

सदा करते रहो

*

जीव को अपने ही कल्याण के लिये भगवान का स्मरण करना है, भगवान के लिये नहीं। भगवान तो न किसी पर

प्रसन्न होने हैं और न किसी पर कुपित। पर जीव अपने कल्याण के लिये ही स्मरण करता है।

भगवान के स्मरण के अनेक प्रकार हैं। अपने - अपने अनुकूल प्रकार को गुरुओं से समझ कर करना चाहिये।

कबीर राम के बड़े भक्त थे। हर समय भगवान् राम का भजन करते रहते थे। अपना ताना - बाना बिनते रहते थे और "राम राम राम " कहते जाते थे। नाम लेते - लेते भगवान के नाम में अटल विश्वास हो गया और नाम सिद्ध हो गया। जब नाम सिद्ध हो जाता है तो क्या होता है, यह बताने के लिये एक बड़ी अच्छी घटना है - "कोई

एक कोढ़ी अपनी व्याधि को असाध्य मान कर कबीर के घर पर पहुंचा। क्योंकि जब लोग वैद्य, डाक्टरों से थक जाते हैं तभी महात्माओं के पास जाते हैं। कबीर तो घर में थे नहीं, उनकी स्त्री से उसने अपनी व्यथा कही। स्त्री को दया आ गई तो उसने कहा कि तीन बार राम - राम कहो तो तुम्हारा कोढ़ अच्छा हो जायगा। उसने कहा कि हजारों बार राम - राम कहा है पर कुछ नहीं होता। स्त्री ने कहा कि हमारे कहलाने से तो कहो। उसके तीनबार राम का नाम लेते - लेते उसका शरीर सर्वथा ठीक हो गया। बड़ा प्रसन्न होकर वह लौटा। मार्ग में जो मिले उसी से कबीर के गुण गाये। कबीर भी कहीं से उधर ही आ रहे थे। उन्होंने सुना कि वह यह कहता जा रहा है कि किसी को कोई कष्ट हो तो

कबीर साहब के यहाँ चला जाये। कबीर ने यह सुनकर उसे बुलाकर कहा कि हम ही कबीर हैं। अब यदि तुमने किसी से अपने अच्छे होने की बात कही तो फिर तुम्हें कष्ट हो जायगा और फिर कभी अच्छा नहीं होगा। इतना उससे कह कर कबीर घर गये और अपनी मुद्रा उदास बना ली। पति - परायणा पतिब्रता स्त्री सब कुछ सहन कर सकती है, पर अपने पति की उदासी सबन नहीं कर सकती। यही पातिब्रत्य का लक्षण है। स्त्री ने कबीर से उदासी का कारण पूछा। कबीर ने कहा कि - बात यह है कि तुमने भगवान के नाम को बहुत सस्ता कर दिया। एक ही बार भगवान का नाम लेने से वह दिव्यकाय

हो जाता, पर तुमने तीन बार उससे क्यों नाम लिवाया। तीन बार लिवाने का कारण यही हो सकता है कि तुम्हें एक बार में विश्वास नहीं था।"

तात्पर्य यह है कि भगवान के नाम में पाप नाश करने की इतनी शक्ति है कि उतना पाप कोई कर ही नहीं सकता। अग्नि में जलाने की जितनी शक्ति है उतना कूड़ा कोई इकट्ठा नहीं कर सकता।

'**हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः**'

दुष्ट चित्त से भी स्मरण करने पर भगवान पापों का श कर देते हैं। इसलिये सत्कर्म करते हुए स्वधर्म पालते

(११६)

चलो और भगवान का सदा स्मरण करते रहो तो पिछले पाप नष्ट हो जायँगे। किन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये कि पाप करते चलो और भगवद् नाम लेते रहो। क्योंकि जितना बैङ्क में जमा किया जाय, यदि उतना सब निकाल लिया जाय तो क्या लाभ होगा।

x x x

भगवच्चिंतन और आहार - शुद्धि

*

जब तक चीज अनुभव में नहीं आती तब तक ठीक - ठीक विश्वास नहीं पड़ता ; संसार का ही चिन्तन हमेशा होता रहता है। इसलिये परमात्मा का चिन्तन करने में कठिनाई पड़ती है। भगवान ने कहा है :-

"**माच्र्चक्ता मदगत् प्राणः बोधयन्तः परस्परम्।**
कथयन्तश्च मां नित्य तुष्यन्ति च रमन्ति च।"

अर्थात्, मुझसे ही अपने चित्त को लगाओ। संसार का चिन्तन न हो, परमात्मा का ही चिन्तन होता रहे। तात्पर्य यह है कि भगवान ने कोई भी समय, कोई भी अवस्था ऐसी नहीं छोड़ी है कि उनके चिन्तन से खाली जाय। अनेक चित्तता

होने का प्रधान कारण यही है कि आहार की शुद्धि नहीं है। आहार - शुद्धि के विषय में धनार्जन का प्रकार यह है कि ---

"**अकृत्वा परसन्तापं, अगत्वा खलमन्दिरम्।**
अनुल्लंध्य सताँ वर्त्मं यदल्पमपि तद् बहु॥"

अर्थात्, किसी को कष्ट न देकर दुष्टों से सम्पर्क न रखते हुए अपनी आत्मा को अधिक उलझन में न डालकर थोड़ा भी मिल जाय तो बहुत है। दुसरे को कष्ट देकर जो धन पैदा किया जायगा वह धन तो पड़ा रह जायगा, परन्तु दूसरे को दिये हुए कष्ट का पाप अपने सूक्ष्म शरीर के साथ जायगा। इसलिये ऐसा न करो कि पाप की गठरी साथ में जाय।

'अगत्वा खलमन्दिरम्' का तात्पर्य यह है कि यदि नीच लोगों के निकट जाओगे तो बुद्धि भ्रष्ट होगी और बुद्धि भ्रष्ट हुई तो पतन निश्चित है। 'बुद्धिनाशात् प्रणस्यति' नीच विषयियों का सम्पर्क साक्षात् विषय से कहीं अधिक पतनकारी होता है। इसी लिये धनोपार्जन की दृष्टि से भी खलों के घर में जाने का निषेध किया गया है।

'अनुल्लंध्य सताँ वर्त्म' का तात्पर्य यह है कि सत्पुरुषों के द्वारा जो वेद - शास्त्रानुसार जिस मार्ग का अनुशरण किया गया है, उसका उल्लंधन नहीं करना चाहिये।

यदि व्यवहार में किसी समय खलों का सम्पर्क करना ही पड़े तो इस प्रकार उनके पास जाना चाहिये, जैसे पाखाने

में जाते हो --- काम किया और चलते हुये। पाखाने में कोई अधिक देर तक नहीं ठहरता। यदि ऐसी बुद्धि रक्खोगे तो नीचों के संपर्क से अधिक हानि की शंका नहीं रहेगी। शुद्ध मन परमात्मा के निकट जाता है और अधुद्ध मन नाना प्रकार की भावनाओं में भटकता रहता है। इसलिये आहारशुद्धि के द्वारा मन को विशेष रूप से शुद्ध बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये --- धान्य - शुद्धि पर बहुत अधिक ध्यान रखने की आवश्यकता है। खान - पान ठीक रक्खोगे, भगवान का चिन्तन करते रहोगे तो अवश्य ही मन शुद्ध हो जायगा। शुद्ध मन से लोक में भी सुख - शान्ति का अनुभव करोगे और परलोक में भी उत्तम गति को प्राप्त करोगे।

x x x

६७

गर्भवास में फिर न आना पड़े

तभी मनुष्य - जन्म सार्थक

*

एक बार मनुष्य शरीर मिला। फिर गर्भ में आने का अवसर न आये, यही मनुष्य होने की कीमत है। यदि बार - बार गर्भ में आना पड़ा तो मनुष्य होने का कोई लाभ नहीं हुआ।

जीव तो अनन्त है। परन्तु योनियों की संख्या चौरासी लक्ष है। इन्हीं चौरासी लाख योनियों में जीव भ्रमण किया करते हैं। ऐसा समझना चाहिये कि एक बहुत बड़ा घेरा है और उस घेरे की दीवाल के किनारे - किनारे चौरासी लक्ष छोटे - बड़े कमरे बने हैं। एक अन्धा उसी घेरे में छोड़ दिया गया है। वह बाहर आना चाहता है। विचार करता है कि कहीं न कहीं तो इस घेरे का फाटक अवश्य होगा। इसलिये दीवाल का सहारा लेकर दीवाल के सहारे वह एक कमरे से दूसरे कमरे में पहुंचता हुआ आगे बढ़ता है।

विचार तो उसका ठीक है कि दीवाल को पकड़े - पकड़े आगे बढ़ेंगे और जहाँ फाटक मिलेगा वहीं से घेरे के बाहर हो जायेंगे। परन्तु जिस समय फाटक पर आता है उस समय उसके शरीर में खुजली होने लगती है ; दीवाल छोड़ कर वह दोनों हाथ से खुजली मिटाने की चेष्टा करता है। इसी बीच में फाटक निकल जाता है।

इस दृष्टान्त का रहस्य यह है कि अंधा तो है जीव और चौरासी लाख कमरे हैं चौरासी लाख योनियाँ। "मनुष्य योनि इस घेरे से बाहर निकलने का फाटक है।" जीव जब फाटक पर आता है अर्थात् जब उसे मनुष्य - योनि मिलती है तब स्त्री, पुत्र, धन, इष्ट - मित्र आदि में वह

जो सुख मानने लगता है यही सुख - बुद्धि उसकी खुजली है। इसी खुजली

में पड़कर वह मनुष्य - जन्म का समय बिता देता है और भवसागर से पार होने का प्रयत्न नहीं करता। यही है अन्धे का खुजली में पड़कर फाटक को छोड़ देना।

मनुष्य का शरीर दुर्लभ है -- यही शास्त्र कहत है। इसका अर्थ यह नहीं कि दुर्लभ शरीर मिला है तो अधिक से अधिक धन एकत्रित कर लिया जाय, अधिक से अधिक पुत्र, पौत्रादि उत्पन्न किये जायँ और अधिक से अधिक विषय - भोग किया जाय -- इसमें मनुष्य शरीर की दुर्लभता सार्थक नहीं होगी। मनुष्य शरीर दुर्लभ है इसलिये कि यह कर्म - योनि है और दूसरे पशु - पक्षी, कीट - पतंगादि की योनियाँ भोग - योनियाँ हैं। भोग - योनि में जीव जो कर्म करता है उसका कोई लेखा नहीं रहता। कर्म - योनि अर्थात् मनुष्य शरीर से जीव जो कर्म करता है उसका हिसाब रहता है और प्रत्येक कर्म का उसे फल भोगना पड़ता है। इसी लिये कर्म - योनि (मनुष्य शरीर) दुर्लभ है। चौरासी लक्ष भोग - योनियों के बाद यह प्राप्त होती है और इसको प्राप्त करके ऐसे कर्म किये जा सकते हैं जिसके फल स्वरूप जीव का भटकना बन्द हो जाय और फिर - फिर कर गर्भवास के अनन्य दुखों का सामना न करना पड़े।

शास्त्र कहता है कि मनुष्य यदि देवताओं की उपासना

करेगा तो देवलोक में और प्रेतों की उपासना करेगा तो प्रेत - लोक में जायगा।

'भूतानि यान्ति भूतेज्या'

भूतेज्य भूत - योनि को प्राप्त होंगे और देवेज्य देवयोनि को प्राप्त होंगे।

जप - तप करने से देवयोनि मिलती है। परन्तु देवयोनि की प्राप्ति भी मनुष्य का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। क्योंकि देवताओं में जो सबसे प्रतिष्ठित देवराज इन्द्र हैं उनमें भी इतनी अविवेक पूर्वक विषय - भोग - वासना पाई जाती है कि स्वर्ग - लोक के विषयों से तृप्ति नहीं हुई तो मर्त्य - लोक में आकर अहिल्या से छल किया। जब देवलोक के राजा की यह दशा है तो वहां की प्रजा तथा अन्य देवताओं की कैसी वृत्ति होगी। इसलिए ऐसे देवलोक को तो दूर से प्रणाम करना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि जीव का देवलोक में निवास भी कुछ ही काल तक रहता है।

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'

पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्यु - लोक को प्राप्त हो जाने हैं और देवलोक में रहते हुए भी सब समान रूप से सुखी नहीं रहते। अपने - अपने कर्मों के तारतम्य के अनुसार सुख - सामग्री उपलब्ध होती है। इसलिए देवता लोग अपने से अधिक सुख् -

सम्पन्न देवताओं को देख कर जलते रहते हैं। देवलोक में भी ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर के कारण वहाँ भी दुःख ही दुःख है। ऐसे लोक में जाने की कभी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

देवता भी मनुष्य शरीर को प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं, क्योंकि मनुष्य - योनि सोने के पासे के समान है। शुद्ध सोना है, अभी आभूषण नहीं बना है। जितना अच्छा कारीगर मिल जाय उतना अधिक मूल्यवान् आभूषण बन सकता है। इसकी कीमत इतनी अधिक हो सकती है कि यह अनन्त मूल्यवान हो सकता है। देवता तो आभूषणरूप में हैं ; सोना के विशुद्ध रूप में नहीं। जो आभूषण बन गया उसका तो मूल्य निश्चित हो गया, अब उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। मनुष्य - योनि शुद्ध सोने का स्वरूप है। यदि कुशल कारीगर (सुयोग्य गुरु) प्राप्त हो जाय तो मनुष्य अनन्तानन्द स्वरूप साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हो सकता है और ऐसा होने में ही मनुष्य - योनि की चरितार्थिता है।

x x x

६८

सर्वत्र भगवान का भाव ही भक्तों का लक्षण

*

भगवद्भक्ति विभोर सभी भक्त वैष्णव हैं। रात्रि - दिन

चोरी, दगाबाजी, भृष्टाचार आदि करते हुये अपने को विष्णु - भक्त वैष्णव मानने से कोई वैष्णव नहीं हो सकता।

शिव, गणेश, सूर्य, शक्ति आदि सब भगवान के अङ्ग हैं। कोई शिव - भक्त कहे कि हमारे शङ्कर ही भगवान हैं, कोई सौर्य कहे कि सूर्य ही भगवान हैं तो यह उसी प्रकार है जैसे सम्पूर्ण हाथी के स्वरूप को न जाननेवाले कुछ अंधों ने हाथी की सूँड पकड़कर कहा कि यह हाथी मूसल के समान है। किसी ने चरण पकड़कर कहा कि हाथी खम्भे के समान है। किसी ने कान पकड़कर कहा कि हाथी ऐसा ही सूप के समान है। बात यही है 'अंधों ने हाथी देख झगड़ा मचाई है' जो हाथी के सम्पूर्ण स्वरूप को जानता है वह कभी नहीं कहेगा कि हाथी सूप के समान होता है या मूसल के समान होता है।

इसी प्रकार जिसने भगवान को ठीक से समझ लिया है वह कभी नहीं कह सकता कि शिव ही भगवान का स्वरूप है या गणेश ही भगवान का स्वरूप है या विष्णु का चतुर्भुजि रूप ही भगवान का स्वरूप है। जो यथार्थ भगवत् - तत्व से परिचित है वह यही कहेगा कि इन समस्त भिन्न - भिन्न स्वरूपों में वही एक परमात्मा के भिन्न - भिन्न अङ्ग रूप हैं। वास्तव में किसी भी देवता की उपासना भगवान की ही उपासना है। यही शास्त्र का सिद्धान्त है।

X X X

६९

गुरु बदलने में कोई पाप नहीं होता

*

कुछ लोग कहते हैं कि एक गुरु बना लिया तो दूसरा गुरु नहीं बनाना चाहिये। किन्तु यह कोई शास्त्र का सिद्धान्त नहीं है, मन - गड़न्त बात है। गुरु किया जाता है कल्याण के लिये। जब तक भगवद् प्राप्ति न हो जाय तब तक गुरु बदले जा सकते हैं। ऐसा तो कोई गुरु - भक्त नहीं देखा गया कि गुरु के बदलने के डर से हमेशा उसी क्लास में उसी गुरु से पड़ता रहे। 'क्लास' के परिवर्तन के साथ गुरु का परिवर्तन

स्वाभाविक हो ही जाता है। पिछले गुरु की अवहेलना नहीं की जाती, उनका मान - सम्मान गुरु के रूप में ही किया जाता है किन्तु आगे की पड़ाई के लिये नये - नये गुरुओं का शिष्यत्व स्वीकार किया जाता है। व्यास - पुत्र शुकदेव जी ने अपने पिता से ज्ञान प्राप्त किया, फिर शंकर जी से ज्ञान प्राप्त किया और नारद जी से भी ज्ञान प्राप्त किया। अन्त में फिर जनके जी के पास भी शिक्षा लेने गये। इसलिये एक गुरु कर लिया है, दूसरा नहीं करेंगे -- यह बिल्कुल रद्दी बात है और कल्याण में बाधक है। इस प्रकार की थोथली बातों को लेकर जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिये। अनेकानेक जन्म इसी प्रकार अनेक योनियों में भटकते हुए

(१२५)

बीत गये हैं अब तो मनुष्य जन्म पाकर सम्भल जाओ। ऊँचे से ऊँचे गुरु से उपासना का प्रकार समझ कर वेद - शास्त्रानुसार ही कर्मों को करते हुए भगवान का भजन - पूजन करते रहो तो निश्चय ही संसार - सागर से पार हो जाओगे।

x x x

जगत् भर का ज्ञान प्राप्त कर लो

पर यदि अपने को न जान पाये

तो अज्ञानी ही रहोगे

*

संसार तो कज्जल की कोठरी है। इसका जितना ज्यादा सम्पर्क बढ़ाओगे उतनी ही कालिमा लगेगी। जो वस्तु जैसी है उसको वैसी ही रहने दो। जितना प्रयोजन है उससे काम ले लो, व्यवहार चलाओ, पर संसार में प्रेम मत करो।

संसार के पदार्थ बाधक नहीं, उन्के प्रति अपना प्रेम अपने लिये बाधक है। संसारी - जन राग के पात्र नहीं, परमात्मा में राग बढ़ाओ।

पहले अपने को जानो फिर परमात्मा को जानने का प्रयत्न करो। अपने को न जान सके तो संसार को जान कर भी तो अज्ञानी ही रहोगे। अपने सम्बन्ध में जब अज्ञान बना है तो दूसरे का ज्ञान होकर ही क्या होगा। अपने घर में

कूड़ा - करकट भरा रहे और दूसरे के मकानों में झाड़ू देते फिरो, यह तो कोई बुद्धिमानी नहीं है। जिस दिन अपने को जान लोगे उसी दिन

मन की सारी गरीबी निकल जायगी और सुख - शान्ति का अनुभव होने लगेगा।

x x x

७१

तुम तो सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के अंश हो

अपने को भूल कर दुःख - सागर में डूब रहे हो

*

एक बार विचार करके देख लो कि तुम कौन हो। संसार में जितना जो कुछ तुम अनुभव करते हो, वह सब तुम से अलग है। शरीर, मन, बुद्धि, प्राण आदि सब कुछ तुम अपना मानते हो -- कहते हो कि हमारा शरीर, हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारा प्राण। स्पष्ट है, जो कुछ अपना मानते हो उसके तुम स्वामी तो हो, पर तुम्हारा अस्तित्व उससे ऐसे भिन्न है जैसे तुम्हारा घर, तुम्हारा मंदिर है। मंदिर तुम्हारा है ; पर तुम मंदिर नहीं हो। इसी प्रकार शरीर, मन, बुद्धि, प्राण आदि तुम्हारे हैं, पर तुम वह नहीं हो - तुम उससे भिन्न वस्तु हो। तुम सच्चिदानन्द परमात्मा के अंश हो, परन्तु अविवेक के कारण, अज्ञान के कारण शरीर, मन, बुद्धि, आदि के साथ

तुमने अपनी इतनी घनिष्टता बना ली है कि उसे ही तुम अपना स्वरूप समझने लगे हो।

हस्त - पाद आदि कर्म - इन्द्रियाँ नष्ट हो जाँय तो भी तुम रहते हो, आँख - कान आदि ज्ञानेन्द्रियाँ नष्ट हो जाँय तो भी तुम बहरे - आंधे होकर रहते हो - तुम्हारा अस्तित्व ज्ञानेन्द्रियों के नष्ट होने से नष्ट नहीं होता। जब कभी तुम बहुत भयंकर रोग से पीड़ित होते हो तो यही कह उठते हो कि 'प्राण निकल जाता तो हम सुखी हो जाते' अर्थात् तुम समझते हो कि संसार की समस्त वेदनायें प्राण निकल जाने से समाप्त हो जायेंगी। इस प्रकार प्राण भी तुमसे भिन्न पदार्थ है, तुम प्राण भी नहीं हो। जितना जो कुछ दृश्य है और अनुभव हो सकता है, उस सबसे तुम भिन्न हो। समझ लो, जहां तक जिन - जिन पदार्थों का तुम त्याग कर सकते हो वहां तक उन - उन पदार्थों से तुम भिन्न हो - तुम्हारा स्वरूप वही है जिसका तुम कभी भी त्याग नहीं कर सकते। सबका अनुभव करने वाले सबके साक्षी तुम शुद्ध - बुद्ध - मुक्त चेतन - स्वरूप सच्चिदानन्द सनातन परमात्मा के अंश हो। अपने स्वरूप को समस्त जगत् और शरीर्, इन्द्रियाँ, प्राण आदि सब से अलग अनुभव कर लो तो फिर संसार में रहते हुए भी दुःख - शोकादि से मुक्त हो जाओगे।

अपने स्वरूप का अनुभव करने के लिये वेद - शास्त्र पर

विश्वास करके सद्गुरुओं के बताये अनुसार उपासना विधान का सहारा लेकर उपासना करते चलो।

X X X

७२

विधि के साथ भगवान् का नाम जपो

*

समय तो किसी न किसी रूप में लोग उपासना के लिये देते ही हैं परन्तु विधान के बिना जाने उसका फल विपरीत ही होता है, अनुकूल नहीं होता। पहले तो इसका ज्ञान होना चाहिये कि कहाँ से उपासना का प्रकार सीखा जाय। ऐसा नहीं कि जहाँ से जो मिलता देखो वहीं से लेलो, पर जहाँ से शास्त्र लेने को कहता है वहीं से लेना चाहिये।

सन्तान चाहते हो तो ऐसा नहीं कि जहाँ भी पड़ी मिले वहीं से उठा लो। विधि पूर्वक विवाह करो, विधाना - नुसार गर्भाधानादि सस्कार कराओ, तब जो सन्तान होगी वह काम की होगी।

इसी प्रकार कोई भी काम किया जाय, यदि विधान से किया गया तो उसका फल उत्तम होगा। यह पक्ष बिल्कुल अनर्थकारी है कि -

"उत्तम विद्या लीजिये, यदपि नीच पर होय।"

(१२९)

यह कहावत तभी से चली है जब से कुम्हार, तेली आदि सब शिक्षक होने लगे हैं। पहिले तो उत्तम विद्या नीच में जा ही नहीं सकती और यदि आ भी गई तो वह नीच नहीं रह सकता। उत्तम विद्या और नीचता दोनों एक साथ कैसे रह सकती हैं - प्रकाश जहाँ जाता है वहाँ अंधकार नहीं रहता।

गंगाजल पीना है तो नाबदान से क्यों पियें, धारा का क्यों न पियें। सन्तान ही चाहना है तो वैध सन्तान क्यों न उत्पन्न करें। उत्तम विद्या ही लेनी है तो उत्तम स्थान से क्यों न ली जाय।

x x x

७३

ॐकार का जप

*

बहुत लोग शास्त्र - विधान देखकर और अधिकार - अनिधिकार का विचार न करके केवल यहाँ - यहाँ से महात्म्य पढ़ - सुनकर ही उपासना में प्रवृत्त हो जाने हैं। कुछ लोग ॐकार को बहुत

महत्वशाली मानकर उसी का जप करने लगते हैं। गीता में भगवान् ने कहा अवश्य है कि प्रणव मैं हूँ। किन्तु यदि ऐसी कारण भगवान् का स्वरूप मान कर भगवान को अपनाते हो तो उसो प्रकार सिंह को भी क्यों

(१३०)

पकड़ कर नहीं रखते, क्योंकि वह भी तो (ओंकार के समान) भगवान का स्वरूप ही है। भगवान श्री कृष्ण चन्द्र ने कहा है कि -

'**मृगानां मृगेन्द्रोऽहं।**'

ॐकार के महात्म्य से प्रेरित होकर जो लोग केवल ॐकार का ही जप करते हैं उनकी क्या दशा होती है, यह हम अपने अभी तक के अनुभव से बताते हैं, सुनो -

दो, चार, दस, बीस बार नित्य ॐकार जप से तो कोई विशेष बात नहीं होती। परन्तु यदि दो - चार हजार जप नित्य होता रहे तो थोड़े ही समय में लौकिक परिस्थिति कमजोर हो जायगी। संखिया मारक है, परन्तु थोड़ा - थोड़ा खाया जाय तो उसका असर उतना शीघ्र नहीं होता। यदि थोड़ी भी मात्रा अधिक हो जाय तो मारक तो है ही। इसी प्रकार केवल ॐकार का जप विशेष रूप से करने वालों की लौकिक व्यवस्था अवश्य कमजोर हो जाती है ; रोजी - रोजगार में कमी हो जाती है ; स्त्री - पुत्र आदि अस्वस्थ रहते हैं और मर भी जाते हैं।

पाँच - छः वर्ष पहिले हम लक्ष - चण्डी यज्ञ के समय लखनऊ गये थे। उस समय एक व्रिद्धा हमारे पास आई और दो - चार लोग भी उसके साथ आये। उन लोगों ने कहा कि माता जी बड़ी भक्ता हैं, दिन भर भजन - पूजन में लगी रहती

हैं, पर अभी थोड़े ही दिन हुए कि इनके दो पुत्र युवावस्था में मर गये। इसके उत्तर में हमने उनसे पूँछा कि 'ॐकार का जप करती हो क्या?' उसने कहा कि महाराज! वही तो हमारा आधार है, दिन भर जप किया करती हूँ। हमने कहा कि अच्छा हुआ आपने संसार को तो जप डाला, अब न छोड़ना। परन्तु उसके लगाव से वह चीज ही नष्ट हो जायगी, यही ॐकार के जप का फल है। या तो कहीं प्रेम न करो और यदि प्रेम करोगे तो वह प्रेमास्पद पदार्थ ही ॐकार के जप के प्रभाव से नष्ट हो जायगा। इसी लिये गृहस्थों को केवल ॐकार के जप का अधिकार नहीं है। शस्त्र जो अधिकार नहीं देता वह कल्याण की दृष्टि से नहीं देता। यदि ॐकार जप से गृहस्थों को लाभ होता तों कोई कारण नहीं था कि शास्त्र उनके लिये निषेंध करता। मन्त्रों के आगे जों ॐकार जोड़ देते हैं वह माङ्गलिक अर्थ में होता है। दूसरी बात यह है कि स्त्रियों कों ॐकार युक्त मन्त्र के जप का निषेध है। जहाँ पुरुषों के मन्त्र के प्रारम्भ में 'ॐकार' लगाया जाता है वहाँ स्त्रियों के मन्त्र के आगे 'श्री' लगाया जाता है।

भगवान् शङ्कर ने पार्वती कों उपदेश करते हुए कहा है कि ॐकार - सहित मन्त्र का जप स्त्रियों के लिये विष के समान होंता है और ॐकार - रहित मन्त्र के जप से ही स्त्रियों का

कल्याण होता है। विचार करना चाहिये कि शङ्करजी अपनी पत्नी को ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं, परन्तु ॐकार को बचा रहे हैं। यदि स्त्री जाति के लिये ॐकार लाभदायक होता तो अपनीं अर्द्धाङ्गिनी कों उपदेश करते हुये शङ्करजी ॐकार का उपदेश क्यों न करते।

X X X

७४

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्री जाति के लिये गुरुत्व नहीं

*

शास्त्रों में स्त्री जाति के लिये गुरुत्व कहीं नहीं बताया। स्त्रियाँ गुरु नहीं हो सकतीं। गार्गी, चुड़ाला, सुलभा आदि स्त्रियाँ ज्ञानी और योगी भी हो गई हैं। परन्तु यह कहीं भी नहीं मिलता कि उन्होंने किसी को अपना शिष्य बनाया हो।

भगवान का भजन पूजन करते हुए साधन सम्पन्न होकर ज्ञान की प्राप्ति तो सब कर सकते हैं, भगवान की भक्ति में सब का अधिकार है, परन्तु गुरु सब नहीं बन सकते। गुरुत्व केवल ब्राह्मण ही को है। ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शिष्य तो हों सकते हैं, पर गुरु नहीं। स्त्रियों को भी गुरु बनने का अधिकार नहीं है।

जनक - राज विदेह इतने बड़े ज्ञानी थे, परन्तु क्षत्रिय होने के नाते उन्होंने गुरु बनने का प्रयत्न कभी नहीं किया। जिस

समय शुकदेव जी को व्यास जी ने जनक जी के पास ज्ञान की शिक्षा लेने के लिये भेजा, उस समय जनक जी ने पूछा कि आप किस लिये पधारे हैं? शुकदेव जी ने कहा कि आपसे ज्ञान को शिक्षा लेने के लिये पिता जी ने भेजा है। जनकजी ने कहा कि आप ब्राह्मण हैं, हम क्षत्रिय हैं, आपको उपदेश करने का अधिकार हमें नहीं है। इसलिये शास्त्र विरुद्ध हम आपको कैसे उपदेश करें।

शुकदेवजी ने कहा कि आप क्षत्रिय हैं तो दान देना तो आप का धर्म ही है। शास्त्र आपको दान देने की आज्ञा तो देता ही है ; आप हमें ब्रह्मविद्या का दान दे दें। यह सुन कर जनकजी ने शुकदेव जी को उच्चासन पर बैठा कर उनका पूजन किया और दान रूप में उन्हें ब्रह्म - विद्या दी। पर शिष्य बना कर जनक जी ने उपदेश नहीं किया। यह है समर्थ लोगों का शास्त्रीय मर्यादा - पालन का आदर्श।

आजकल कायस्थ, वैश्य, तेली, कलवार भी कपड़ा रंग - रंग कर साधू का वेश बना लेते हैं और लोगों को अपना शिष्य बनाने के लिये लालायित रहते हैं। इस प्रकर के गुरु और शिष्य दोनों ही पतन को प्राप्त होते हैं। जो बातें हम कहते हैं वह शास्त्रानुकूल ही कहते हैं, अपनी मनगढ़न्त बात हम कुछ नहीं कहते।

X X X

(१३४)

७५

स्त्री - समाज को केवल पति परायण ही रह कर कल्याण

*

स्त्रियों में स्वभाव से ही रजोगुण अधिक रहता है। इसलिये अधिकांशतः ध्यान - समाधि की ओर वे सफलता पूर्वक अग्रसर नहीं हो सकतों। इसीलिये उन्हें एक पति - परायण रहने का विधान है। निरन्तर पति - परायण रहकर स्त्री अन्त काल में पति का स्मरण करती हुई ही शरीर त्याग करेगी, जिससे उसका जन्म पुरुष योनि में होगा। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि जिस - जिस भाव से जीव शरीर छोड़ता है उसी - उसी भाव को प्राप्त होता है -

यं यं वापि स्मरन भावं,
त्यज्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय।
सदा तद्भाव भावितः॥

- "गीता "

स्त्री यदि भगवान का चिन्तन करती हुई शरीर त्यागे तब तो भगवान में मिल ही जायगी, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु स्त्री - प्रकृति रजोगुण प्रधान होने के कारण उनमें चाञ्चल्य

अधिक होता है। इसलिये भगवान स्वरूप में उनकी वृत्ति टिकना कठिन रहती है। साथ ही यह भी बात है कि पुरुष - चिन्तन का स्वभाव स्त्री का स्वाभाविक हुआ करता है। इस लिये पति - परायण होकर सदा पतिभावापन्न रहना हि उनके लिये शास्त्र में श्रैयस्कर बताया गया है। पति - परायण रहेगी तो अन्त काल में भी पति का स्मरण करती हुई शरीर त्याग कर पुरुष - योनि को प्राप्त हो जायगी और अगले जन्म में भगवत् परायण होकर भगवान में मिल जायगी।

स्त्री - योनि महा कष्टकारी योनि है -- गर्भ - धारण और प्रसव - काल में तो मरण के समान महा भयंकर दुःख होता है। उसकें वाद भी सन्तान के पालन - रक्षण आदि में जों कष्ट होते हैं, वह स्त्रियाँ ही जान सकती हैं ; दूसरा कोई इसकी भयंकरता का अनुमान भी नहीं लगा सकता। इस प्रकार अत्यन्त कष्टदायिनी स्त्री - योनि से जीव को मुक्त करके पुरुष - योनि में लाने के लिये ही पातिव्रत्य का इतना विधान शास्त्र में किया गया है। यह सब स्त्रियों के कल्याण के लिये ही है।

x x x

७६

भगवान् के आज्ञारूप वेद शास्त्र के अनुसार चलिये

*

धनवान व पुत्रवान होने के लिये तो सब लोग प्रयत्न करते हैं, परन्तु आचार्यवान होने के लिये वे अधिक प्रयत्न नहीं करते। आचार्यवान होना ही समस्त सुख - शान्ति को प्राप्त करना है। किसी को गुरु मान लेने से वह आचार्य नहीं कहा जा सकता, जिसमें आचार्य के

लक्षण हों वही आचार्य कहा जा सकता है। आचार्य ही किसी को आचार्यवान बना सकता है।

श्रुति - स्मृति ममैवाज्ञे,
यस्तोंल्लंध्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी ममद्रोही,
मद्रभक्तोभपि न मे प्रियः॥

अर्थात्, श्रुति - स्मृति मेरी आज्ञा है। उसका उल्लंघन जों कोई मरता है वह चाहे मेरा भक्त ही क्यों न हो, वह मुझे प्रिय नहीं लगता।

इसलिये भगवान की आज्ञा - रूप श्रुति - स्मृति [वेद - शास्त्र] की ही प्रधानता मानी जाती है।

हम वेद - शास्त्र की ही बात सुनाते हैं, अपनी कोई मन - गढ़न्त बात नहीं कहते। हमने कभी नहीं कहा कि हमारी

बात मानो। क्योन्ंकि हमारी व्यक्तिगत बात मानोगे तो शङ्कराचार्य की बात मानने की आदत पड़ जायेगी। फिर यदि कोई नालायक भी इस गद्दी पर आ गया तो उसकी भी बात मानोगे। किसी के भी व्यक्तिगत विचारों से कल्याण नहीं होगा, कल्याण तो वेद - शास्त्र की बातें मानने से होगा। इसलिये हम कहते हैं कि शङ्कराचार्य की व्यक्तिगत बात मानने की आदत मत डालो, वेद -

शास्त्र के अनुसार जो कहें वही मानो। शास्त्र कहता है कि वेद - शात्र भगवान् की आज्ञा है।

भगवान् के भक्तों को तो अवश्य ही भगवान् की आज्ञा रूप वेद - शास्त्र का पालन करना चाहिये। जब तक भगवान मिले नहीं हैं तभी तक उनकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। जब भगवान से मिल जावगे तब तो भगवद्रूप ही हो जाओगे ; उस समय आज्ञा - पालन का कोई प्रश्न ही नहीं रह जायगा।

x x x

७७

सद्गुरु किसे कहते हैं?

*

"**तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्,**

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।"

प्रत्येक शब्द के दो अर्थ हैं -- एक वाच्यार्थ और दूसरा लक्ष्यार्थ।

इस श्रुति में तत् पद का वाच्यार्थ है "मायोपाधि चैतन्य देव ईश्वर " -- भगवान राम, कृष्ण, शक्ति आदि साकार ब्रह्म। और तत् पद का लक्ष्यार्थ है मायातीत पूर्ण ब्रह्म - निर्गुण निराकार परमात्मा जो चराचर में रमा हुआ है। प्रयोजन यह है कि तत् पद वाच्य सगुण साकार परमात्मा तथा तत् पद लक्ष्य निर्गुण निराकार परब्रह्म है। किसी के भी जानने की इच्छा हो तो गुरु के पास जाना चाहिये। गुरु के पास रिक्त हस्त न जाय। हाथ में कुछ पत्र - पुष्प लेकर जाना चाहिये।

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिये। श्रोत्रिय का अर्थ है वेद - वेदार्थ का ज्ञाता और ब्रह्मनिष्ठ उसे कहते हैं जो वेद - वेदार्थ द्वारा निरुपित परब्रह्म परमात्मा का रसास्वादन करता हो। ये दो विशेषण जिसमें हों, वही गुरु और आचार्य पदवाच्य हो सकता है।

गुरु ही भवसागर से पार उतारने वाली नौका है। संसार में सदगुरु मिलना ही दुर्लभ है और सब कुछ तो यहाँ सुलभ ही है। मंत्र तो वेद - शास्त्र में भरे पड़े हैं, मंत्रों की कमी नहीं है। परन्तु पुस्तकों के मंत्र तो ऐसे हैं जैसे कारतूसों का ढेर। पचासों प्रकार की कारतूसों का ढेर लगा हो और बन्दूक भी

पास में रखी हो, परन्तु जब तक कोई यह बताने वाला न हो कि किस नम्बर का कारतूस किस जानवर को मारने के लिए ठीक है, तब तक

कारतूसों का ढेर सामने रहते हुए भी बेकार सा ही है। जिस प्रकार कुशल शिकारी शेर, हाथी, हिरण आदि के शिकार के लिये अलग - अलग नम्बर के कारतूसों से काम लेता है, उसी प्रकार अनुभवी गुरु लोग साधकों की शक्ति - प्रवृत्ति आदि को देखकर उनके अधिकार के अनुसार ही लाभदायक मंत्रों का निर्णय करते हैं और उन्हीं से साधकों को लाभ होता है।

कहीं भी शास्त्रों में विधान नहीं है कि गुरु लोग शिष्यों के यहाँ जायँ। गुरु को मोटर - गाड़ी भेज कर अपने पास बुलाने का कहीं भी विधान नहीं है, शिष्य को स्वयं गुरु के पास जाना चाहिये, यही मर्यादा है। परन्तु जब से शिष्यों के सहारे पेट लग गया तभी से गुरुत्व की मर्यादा मिट्टी में मिल गई। राजगुरु क्या होते हैं? राज - गोरू होते हैं - गोरु कहते हैं पशु को। राजा की तरफ से गाँव - इलाका लग गया, मोटर चढ़ने को मिल गई, बस मानो स्वर्ग का सारा सुख मिल गया, अब आगे कोई पुरुषार्थ नहीं। शिष्य के कल्याण की चिन्ता नहीं, चाहे वह नरक में ही क्यों न चला जाय। तुलसीदास जी ने ठीक ही लिखा है -

हरै शिष्य धन, शोक न हरई।
मौ गुरु घोर नरक मंह परई॥

शोक कैसे निवृत्त होता है? इसके लिये श्रुति कहती है ---

'**तरति शोकमात्मवित्**'

आत्मज्ञानी ही शोक - सागर को पार करता है। इसीलिये शिष्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ के पास जाकर आत्म - ज्ञान प्राप्त करै - यह श्रुति का आदेश है।

यदि गुरु शिष्य को आत्मज्ञान या भगवददर्शन न करा सका और उसके धन का बराबर उपयोग करता रहा तो निश्चय ही उसे घोर नरक प्राप्त होगा। हम जब किसो को शिष्य करते हैं तो प्रयत्न करते हैं कि इसे स्वरूप - ज्ञान या भगवद्दर्शन हो जाय। यदि उसकी अपात्रता के कारण ऐसा न हो सका तो उसके कारण हम तो नरक से बचे रहें -- यही सोच कर किसी भी शिष्य से कभी किसी प्रकार की आर्थिक सेवा नहीं लेते।

एक समय हम कुम्भ में प्रयाग में थे। वहाँ किसी सभा में हमने कहा कि हम तो समझते थे कि हमारी दूकान नई है, परन्तु चली खूब। यह सुनकर कुछ साधुओं ने विचार किया कि ये तो कुछ लेते - देते नहीं। हमीं लोगों पर यह व्यङ्ग बोला गया है। यह सोचकर कुछ लोग हमारे पास आये और पूछा

कि महाराज! दूकान में तो लेना - देना होता है पर आप तो कुछ लेते - देते नहीं - तो यह किस अभिप्राय से कहा गया है? इस पर हमने कहा कि हम भी लेते - देते हैं, पर हमारे लेने - देने की चीज आपसे भिन्न है। आप लोग रुपया - पैसा लेते हो, परन्तु हम उससे अधिक कीमती चीज लेते हैं। आप समझते हो कि जब दो रईस परस्पर मुकद में - बाजी करते हैं तो अपना सर्वस्व बेचकर लड़ने को तैयार रहते हैं, पर एक दूसरे के सामने विनीत नहीं होते। कोई कुछ भी करे पर अपना सर झुकाने के लिये तैयार नहीं रहते। वही सिर जो अपना सर्वस्व नष्ट करके भी नहीं झुकता, हमारे सामने आकर जमीन पर लग जाता है। जिसने अपना मस्तक हमारे सामने झुका दिया, उसके पास उससे बड़ी हमें देने के लिये और कोई चीज नहीं है। इस प्रकार मनुष्य की हम सबसे बड़ी चीज लेते हैं और उसके बदले में देते हैं "उसके कल्याण का मार्ग "। यही हमारे यहाँ का लेना - देना है। सिर का झुकना कितनी बड़ी बात है, यह वही समझ सकता है जिसका सिर कहीं न झुका हो। जिनका सिर इधर - उधर झुकता ही रहता है उनके सामने सिर का क्या मूल्य! वे तो सिर की अपेक्षा रुपये को अधिक मूल्यवान् मानते हैं। सिर झुकना अपने अहंकार, अपने अस्तित्व का समर्पण है। उससे अधिक मूल्य रुपया - पैसा का मानना उचित नहीं। हम लेते है लोगों का अहंकार और देते हैं

उनके कल्याण का मार्ग, इसलिये यही लेना - देना हमारे यहां होता है।

x x x

७८

जगद्‌गुरु किसे कहते हैं?

*

संसार में आस्तिक व नास्तिक दो श्रेणी के लोग हैं :-

नास्तिक जगत् के तो कोई गुरु होते नहीं। आस्तिक जगत् का जो गुरु हो उसे ही जगद्‌गुरु कहना चाहिये। आस्तिकों में दो प्रकार की निष्ठा पाई जाती है - कुछ लोग साकार ब्रह्म में निष्ठा रखते हैं और कुछ की निष्ठा निराकार में होती है। जो साकार - वादियों और निराकार - वादियों दोनों का गुरु होने की क्षमता रखता हो, वही जगद्‌गुरु कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि साकार देवताओं में जो पंच - देवता वैदिक हैं, अर्थात भगवान विष्णु, शिव, शक्ति, सुर्य और गणेश, इन सब की उपासना का प्रकार समझाने वाला जो हो और जो इन पंच - साकार देवताओं में निष्ठा न करके निर्गुण निराकारवादी है उसको भी जो उपदेश कर सके वही जगद्‌गुरु है। एक - एक देवता की उपासना का प्रकार समझाने वाले लोग उसी प्रकार हैं, जैसे एक - एक रोग की दवा की

एक - एक शीशी रखने वाले टुटपुंजिया वैद्य लोग जो कम्पा - उन्डर की भी हैसियत नहीं रखते और कहते हैं अपने को सिविल सर्जन। कोई अपने पुत्र का नाम 'राम' रखले तो कौन रोक सकता है। परन्तु नाम मात्र से तो वह राम नहीं हो जाता। कोई अपने नाम के आगे जगद्गुरु लिखने लगे तो उसे रोके कौन? किन्तु जब जगद्गुरु के लक्षण पूछने लगते हो तो लक्षण - युक्त जगद्गुरु वही है जिसके दरवाजे से किसी भी देवता में निष्ठा रखने वाला निराश होकर न लौटे। आधुनिक सम्प्रदायों ने शिव, शक्ति, विष्णु आदि की उपासनाओं के सम्बन्ध में जो बटवारा किया गया है वह अनुचित है। पंच - देवताओं में कोई छोटा - बड़ा नहीं है। सभी देवता अपने भक्त का समान रूप से कल्याण करने में समर्थ हैं जितने उपासक हैं सभी वैष्णव हैं ; क्योंकि सभी देवता भगवान के ही अंग हैं। भगवान का स्वयं कथन है कि -

"**ज्ञानं गणेशो मम चक्षुरर्कंअः,**
शिवो ममात्मा ममशक्तिराद्य।
विभेद बुद्धया मयि ये भजन्ति,
ममाङ्गहीनं कलयन्ति मन्दाः॥"

अर्थात् गणेश जी भगवान के मस्तिष्क हैं, सुर्य भगवान के नेत्र हैं, शिव भगवान की आत्मा, आद्य भगवती भगवान की शक्ति है। इसलिये इन पण्चदेवों को एक ही भगवान के

भिन्न - भिन्न अङ्ग न मान कर जो इनमें परस्पर भेद - भावना मान कर इनमें से किसी एक की उपासना करते हैं, वे भगवान की उपासना नहीं करते बल्कि उनका अङ्ग - छेदन करते हैं।

स्पष्ट है कि जो गणेश का खण्डन करता है वह चाहे विष्णु - भक्त हो, किन्तु भगवान विष्णु के मस्तिष्क का छेदन करने वाला होता है। कोई विष्णु - भक्त यदि शिव का खण्डन करता है तो वह भगवान विष्णु की आत्मा का छेदन करता है। इसी प्रकार देवी का खण्डन करने वाला भगवान को शक्तिहीन करता है। इसलिये आज - कल के साम्प्रदायिक लोग जो परस्पर एक दूसरे से ईर्ष्या - द्वेष करते हैं और अपने को वैष्णव कहते हुए भगवान शिव का या अपने को शैव कहते हुए भगवान विष्णु का खण्डन करते हैं, वे न शैव ही हैं और न वैष्णव ही -- वे केवल दम्भी है। वैष्णव वही है जो भगवान विष्णु का भक्त है।

'**विष्णौरतः वैष्णवाः**' '**ऊर्ध्वपुंड्वत्वं वैष्णवत्वम्**'

'ऊर्ध्वपुंछ्र वाले को वैष्णव कहते हैं' - यह कोई सिद्धांत नहीं है।

जो भगवान विष्णु की उपासना करता है वह तो वैष्णव है ही। परन्तु सभी देवता भगवान के भिन्न - भिन्न अंग होने के कारण किसी भी देवता की उपासना करने वाला भी वैष्णव

कहा जा सकता है जिस समय किसी देवता की उपासना कर रहे हो, उसी समय वैषव हो। समस्त आस्तिक - जगत् वैष्णव है।

केवल ऊर्ध्व - पुंड्र लगा कर अपने को वैष्णव और दूसरे को अवैष्णव कहने वाले वास्तविकता से अपरिचित हैं। वे भगवान विष्णु का अपमान करते हैं। कोई शिव भक्त या शक्ति उपासक यदि अपने को वैष्णव नहीं मानता है तो यह भी उसकी भूल है। कोई भी संसार में ऐसा नहीं है जो वैष्णव नहीं। संप्रदाय - वादियों की फिरकेबाजी न उनके काम की चीज है और न दूसरे की ही।

x x x

७९

सत्संग की बातों का मनन करना आवश्यक

*

शुकदेव जी ने भागवत सुनाया, हजारों लोगों ने सुना, परन्तु उसके प्रभाव से मोक्ष केवल परीक्षित को ही हुआ। गोकर्ण से भी बहुतों ने सुना, परन्तु मोक्ष केवल धुंधकारी को हुआ। इस पर यह प्रश्न उठता है कि वृष्टि व्यापक हो और तृप्ति एक मनुष्य को हो - यह कैसी बात है! बात यह है कि मोक्ष का सम्बन्ध मन से है। जिसका मनन किया जाता है उसी का संस्कार दृढ़ होता है और संस्कारों की दृढ़ता पर

ही जीव का बन्धन या मोक्ष निर्भर करता है। श्रुति और स्मृति (अर्थात् वेद् और शास्त्र) दोनों का यही सिद्धान्त है -

"**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**"
-श्रुति।

"**ध्यान एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥**"
- याज्ञवल्क्य स्मृति।

जो सिद्धान्त या जो भगवत् - सम्बन्धी वार्ता सत्संग में सुनी जाय, उस पर भली प्रकार विचार करके उसको मनने करते रहना चाहिये।

सत्संग की बातें सुनने से कर्ण तो पवित्र होंगे। परन्तु यदि उन पर कुछ विचार नहीं किया गया, कुछ मनन नहीं किया गया, तो वह सब कर्ण तक ही रह जायगा और एक कर्ण से होकर दूसरे से बाहर निकल जायगा। सत्संग की सारी बातों का प्रयोजन मन (अन्तःकरण) को

पवित्र करना है। मन ही प्रधान वस्तु है। मन यदि अपवित्र रहा तो इसी के कारण जन्म - मरण का चक्र चलता रहेगा और यदि मन पवित्र हो गया तो उसी से मोक्ष हो जायगा। महर्षि याज्ञवल्य जी ने ध्यान को ही बंधन या मोक्ष का कारण बताया है। ध्यान मन ही करता है। मन पवित्र हुआ तो भगवान् का ध्यान करता हुआ मनुष्य मोक्ष प्राप्त करेगा और यदि मन अपवित्र रहा तो नाना प्रकार की वासनाओं में फण्सा रह कर अनर्थ

चिन्तन करता हुआ, अनावश्यक वस्तुओं का ध्यान करता हुआ, संसार - चक्र में मन उसे घुमाता रहेगा।

x x x

८०

घरमें रहते हुए ही महात्मा बनो

*

जो जहाँ है, वह वहाँ रहते हुए ही महात्मा बन सक्ता है। गेरुअ वस्त्र या तिलक - छाप से कोई महात्मा नहीं होता। वेश कल्याणकारी नहीं, निष्ठा से कल्याण होता है। मन की वृत्ति में महत्मापन होता है।

इसलिए यहाँ हो, वहीं रहते हुए मन की धारा को बदलो - संसार का चिन्तन भीतर से कम करो और परमात्मा का चिन्तन बढ़ाओ।

आजकल अचिन्त्य को चिन्त्य मान लिया गया है। मुख्य चिन्त्य परमात्मा ही है। उसका चिन्तन न करके अचिन्त्य संसारी पदार्थों का चिन्तन किया जाता है। इसलिए सुख - शान्ति का अनुभव नहीं होने पाता। यदि प्राणों का रक्षण केवल सांसारिक कार्यों और विषय - भोगों के लिए है तो वह लुहार की धौंकनी ही है। अतः प्राण का पोषण करो और उसे परमात्मा में लगाओ।

पहले श्रद्धा उत्पन्न करो। धन में श्रद्धा है, तभी तो

(१४८)

धन का चिन्तन करते हो। जब परमात्मा में श्रद्धा हो जायगी तो उसी का चिन्तन होने लगेगा। विचार करो कि धन आदि समस्त सांसारिक पदार्थ यहीं पड़े रह जाँयगें और आगे की यात्रा अकेले ही करनी पड़ेगी। उस आगे की यात्रा के लिए अभी से कुछ तैयारी कर लो - परमार्थ में श्रद्धा बढ़ाओ, नित्यानन्द स्वरूप परमात्मा से प्रेम बढ़ाओ। जो चीज यहीं पड़ी रह जाने वाली है उसमें, अर्थात् जगत् की व्यावहारिक चीजों में केवल शिष्टाचार बनाओ और मुख्य श्रद्धा परमार्थ में करो, जो साथ जायगा।

एक बार भी निश्चय हो जाय कि वह रुपये क ढेर मदारी का बनाया हुअ है, तो फिर चाहे कोई कितना भी लालच देगा पर उसमें प्रेम नहीं हो सकता। मदारी के क्षणिक रुपये के समान ही संसार के समस्त पदार्थ और सम्बन्ध क्षणिक ही हैं। इसलिए इनसे व्यवहार तो करो और ऊपर से शिष्टाचार पूरा रखो। मन के भीतर इनका स्थान मत बनाओ। मन में नित्य अविनाशी आनन्द-स्वरूप परमात्मा को स्थान दो। मन में हमेशा भगवान् का स्मरण बना रहे और मर्यादा का उल्लंधन न हो - यही महात्मापन है।

x x x

८१

धन - संग्रह से अधिक प्रयत्य बुद्धि शुद्ध करने के लिए करो

*

सन्तान के लिए धन - संग्रह करने में आप लोग जितना प्रयत्न करते हैं उसका आधा प्रयत्न भी यदि बुद्धि - शुद्ध करने के लिए करें तो बहुत लाभ हो।

बुद्धि शुद्ध रही तो धन कम रहते हुए सन्तान सुख - शान्ति का अनुभव कर सकती है। पर यदि बुद्धि दूषित रही तो अनन्त धन - धान्य रहते हुए भी दुर्वासनाओं में पड़कर सन्तान दुःख और अशान्ति ही भोगेगी। इसलिए प्रथम बुद्धि शोधन के लिए प्रयत्न करो, पश्चात् धन - संग्रह करो।

X X X

८२

बिना ज्ञान के न भक्ति हि हो सकती है

और न मोक्ष ही

*

जितने कर्म मनुष्य एक जन्म में करता है उसका फल इतना अधिक होता है कि कई जन्मों में भी भोग कर समाप्त

नहीं किय जा सकता। यही कारण है कि संचित कर्मों की अनन्त राशि प्रत्येक जीव के लिए भोगने को पड़ी है। उसको भोगने के लिए

अनन्तानन्त जन्म - धारण करना पड़ेगा। यदि उसे भोग कर समाप्त करना है तो जब तक संचित कर्म नष्ट नहीं होंगे तब तक जन्म - मरण के चक्कर से छूटोगे नहीं। कर्म - राशि को समाप्त करने के लिए ही ज्ञानाग्नि उत्पन्न की जाती है। जो अपनी संचित कर्म राशि को ज्ञानाग्नि से भस्म कर देता है उसी को बुधजन'पंडित' कहते हैं -

"**ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणं तमाहः पंडितं बुधाः** "

कोई मनुष्य एक मिनट में किसी को कत्ल कर दे तो उसे यदि फांसी न हुई तो आजन्म काला - पानी या बीस वर्ष की सजा अवश्य ही होगी। इसी प्रकार और भी कार्यों के उदाहरण से यही मालूम होता है कि २ - २, ४ - ४ मिनट में किये हुए कर्मों का फल वर्षों भोगना पड़ता है तो जीवन भर में किये हुए कर्मों का फल कितने जन्मों तक भोगना पड़ेगा, इस का कुछ ठिकाना नहीं। इसीलिये ज्ञान का महत्व है कि ज्ञान हो जाने पर समस्त संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं।

यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

अर्थात्, जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि समस्त (संचित) कर्मों को भस्म कर

देती है। इसलिये ज्ञानाग्नि से वंचित को नष्ट करो और प्रारब्ध को शान्ति - पूर्वक भोग डालो।

अपने संचित कर्मों को नष्ट कर्ने के लिए ज्ञान की प्राप्ति करना ही सबसे बड़ा कार्या है। ज्ञान - प्राप्ति के बाद फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। यथा -

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।

नैवास्ति किंचित्कर्तव्यं अस्ति चेन्नस तत्त्ववित्॥ स्लोक

ज्ञानी के लिए लिखा है कि यदि उसका मनोराज्य किसी कार्य के लिए हो तो उसे ॐकार का जप करता चाहिये -

बुद्ध तत्वेन धी दोष शुन्येनेकान्तवासिनः।
दीर्घ प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विलीयते॥

ज्ञान हो जाने के बाद विदेह मोक्ष तो होता है, पर जीवन्मुक्ति के लिए उसे भी अहंग्रहोपासना का सहारा लेना पड़ता है।

पहले अपरोक्ष ज्ञान होता है अर्थात् शास्त्र और गुरुओं के द्वारा यह निश्चय होता है कि एक अद्बितीय परमात्मा सर्वत्र चराचर में परिपूर्ण है, वह सच्चिदानन्द अखण्ड ज्ञान्स्वरूप है। ऐसा निश्चयात्मिक, संशय विपर्यय रहित बोध ही अपरोक्ष ज्ञान है।

प्रहलाद को पहले से ही यह ज्ञान था कि हमारा राम सर्वत्र परिपूर्ण है। ऐसा उन्हें निश्चय था, इसलिये वे अहर्निश

१५२)

भगवान का चिन्तन करते रहते थे। जब तक भगवान् को कोई जानेगा नहीं, तब तक उनकी भक्ति ही क्या करेगा। भगवान् को सर्वत्र चराचर में जान लेना ही ज्ञान है और उनकी सेवा - पूजा करने लगना भक्ति है भक्ति के द्वारा उन्हें एक देश में प्रकट करके उनका साक्षात्कार करना ही विज्ञान है और विज्ञान के बाद उसी भाव में तल्लीन हो जाना परा भक्ति है।

X X X

८३

अच्छे कार्यों को जल्दी करो

*

संसार का अनुभव जीव अनेक जन्मों से करता चला आ रहा है। संसार की ओर उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक हो गई है। इसको संसार से हटाकर परमात्मा की ओर लगाने में ही प्रयत्न करना है। पुरुषार्थ वास्तव में मन को संसार से रोकने के लिए करना है। भगवान का

भजन - पूजन, चिंतन - कथन आदि होता रहे, इसी में मन घूमे तो कुछ समय में संसार से स्वतः हट जायगा।

व्यवहार में यह नीति रखनी चाहिये कि अच्छे कर्मों को, भगवत्संबन्धी कार्यों को तो जल्दी से जल्दी पूरा करने की

कोशिश रहे और यदि कोई बुरा संकल्प उठे तो उसको उसी समय टालना चाहिये कि कल कर लेंगे या परसों कर लेंगे -

इस प्रकार बराबर उसे टालते रहना चाहिये।

X X X

८४

भगवान् से लाभ उठाना चाहते हो तो

उपासना करके उन्हें एक - देश में प्रकट करो

*

व्यापक निराकार भगवत्सत्ता से कोई कार्य नहीं हो सकता, वह तो साक्षी मात्र है। वह जब माया का सहारा लेकर एक - देश में आती है तभी माया के त्रिगुणात्मक व्यवहारिक जगत् में कुछ कार्य करती है।

जैसे निराकार अग्नि काष्ठ में सर्वत्र व्यापक होते हुए उस काष्ठ को नहीं जलाती और न उससे कुछ कार्य ही लिया जा सकता है। किन्तु जब उसे घर्षण करके काष्ठ को भी जल सकती है और इच्छा - अनुसार उससे कार्य लिया जा सकता है। इसी प्रकार व्यापक भगवत्सत्ता जब उपासना द्वारा एक - देश में प्रकट की जाती है तभी वह व्यवहारोपयोगी हो सकती है।

(१५४)

उपासना ही ऐसा सोपान (सीढ़ी) है जिससे भक्त भगवान के पास पहुँचता है और भगवान् भक्त के पास आते हैं। उपासना ही के द्वारा सर्वत्र चराचर में एक - रस रमी हुई भगवान् की सत्ता एक - देश में प्रकट होकर भक्त की इच्छानुसार कार्य करती है। निर्गुण निराकार सत्ता जब सगुण साकार होती है तभी कुछ व्यावहारिक कार्य होते हैं। इसलिए भगवान से लाभ उठाना चाहते हो तो उपासना करके उन्हें अपने हृदय में या बाहर कहीं भी प्रकट करो। एक बार भगवान का उद्घाटन हृदय में हो जाय तो फिर जन्म की सारी गरीबी मिट जायगी।

x x x

सुख चाहते हो तो सुख - सागर की ओर चलो

*

जो वस्तु जहाँ होती है वहीं से वह प्राप्त की जा सकती है। धन चाहते हो तो धनिकों के पास मिलेगा, विद्या चाहते हो तो विद्वान् के पास जाना होगा। यदि हीरा - मोती खरीदना है तो सराफा में जाने से मिलेगा, साग के बाजार में ढूँढ़ने से हीरा नहीं मिलेगा चाहे जितना परिश्रम करो। इसी प्रकार सुख - शान्ति चाहते हो तो सुख - स्वरूप व शान्ति - स्वरूप परमात्मा

के पास जाने से ही सुख - शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। इधर - उधर चाहे जितना सिर पीटते रहो, संसार में चाहे जितना परिश्रम करो, सुख - शान्ति से भेंट न होगी।

जितना - जितना संसार में परिश्रम करके, धनार्जन करके या मान - प्रतिष्ठा प्राप्त करके सुख - शान्ति प्राप्त करने के लिए करोगे, उतना - उतना दुख और अशान्ति ही हाथ लगेगी। सुख मान लेना तो दूसरी बात है - मान लो कि अमुक वस्तु मिल जाय तो मैं सुखी हो जाऊँगा ; और वह वस्तु मिल गई तो ऐसा मानो कि मैं सुखी हो गया। इस प्रकार मान लेना तो दूसरी बात है। परन्तु विचार करो तो यहाँ की किसी भी वस्तु में न सुख है, न शान्ति है।

संसार की चकाचौंध में पड़कर अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को भूल गये हो। ईश्वर के विमुख होने से ही दुःख आया है, और वह दुःख उसी के सामने से जायगा। संसार की बाहरी चीजों में इतना भूल गये हो कि स्वयं अपने सम्बन्ध में ही भ्रम हो गया है - यही पता नहीं है कि हम हैं कौन!

जो इतना बावला हो गया हो कि स्वयं को भूल गया हो, अपने ही स्वरूप को न पहचान पाता हो, उस पागल को क्या कहा जाय। वह तो ऐसा कर ही सकता है कि प्रकाश पाने की इच्छा से किसी अँधेरी गुफा में घुस जाय। संसारी

पदार्थों से सुख - शान्ति की इच्छा करना इसी प्रकार है जैसे प्रकाश की इच्छा वाले का अँधेरी गुफा में प्रवेश करना।

सुख चाहते हो तो सुख - सागर जो परमात्मा है उसकी ओर चलो। परमात्मा की ओर चलोगे तभी सुख - शान्ति मिलेगी और लौकिक - पारलौकिक ऐश्वर्य भी मिलेगा। जिस प्रकार प्रकाश से विमुख होने पर अँधकार घेर लेता है, वैसे ही परमात्मा से विमुख रहोगे तो दुःख और विपत्तियाँ घेर लेंगी।

X X X

८६

भगवान का भजन अवश्य करो --

मन लगे या न लगे

*

दुष्ट चित्त से, मलिन चित्त से भी भगवान् का स्मरण किया जाय तो भी वे पापों का नाश कर देते हैं, जैसे कि बिना इच्छा के भी यदि अग्नि को छू लिया जाय तो भी वह जला ही देती है। भगवान् में प्रेम बनाना तो कठिन है क्योंकि अनेक जन्मों का बिगड़ा हुआ मन है, सहसा भजन के लिए बैठो अवश्य। मन भगता है तो भागने दों, पर तुम उसके साथ मत उठकर भागने लगो। भजन करने बैठो और मन

बाहर जाय तो चिन्ता नहीं, वे मन के ही माला फेरते बैठे रहो --- ऐसा नहीं कि मन हटा और तुम उठ खड़े हुए। धीरे - धीरे मन भी लगने लगेगा, घबराना नहीं चाहिये। परन्तु एक बात अवश्य ध्यान देने की है कि भगवान् का भजन तो करो, पर पाप से अवश्य बचते रहो। ऐसा मत सोचो कि कि भगवान के भजन से पाप कट ही जायेगा तो क्यों न थोड़ा और कर ले। यदि पाप करने लगोगे तो फिर पाप ही तुम्हें भगवान के भजन से भी हटा देंगे --- यह भी निश्चय रखो।

x x x

८७

'ज्ञान से भगवान् के दर्शन का भाव

रखना ठीक है या प्रत्यक्ष का?'

*

यह दोनों प्रकार से होता है। जिस प्रकार से वे सामने आयें, जिस रूप में वे सामने आये, उसी रूप में देखो, हठ नहीं करना चाहिये। साकार रूप में आयें, तो उसी रूप में देखो और निराकार रूप में रहें तो वैसी ही निष्ठा बना लो। परन्तु नित्य के अपने अभ्यास के लिये एक आधार बनाकर नियम बना लेना चाहिये। साकार में वृत्ति टिकने का आधार

स्पष्ट ही है। निराकार में निष्ठा करनी हो तो मन को नेत्र बनाकर देखना चाहिये। यह अवश्य है कि नियम बना लेना चाहिये। अभ्यास करते - करते, ध्यान करते - करते, इष्टदेव में प्रेम बढ़ जाता है और जहाँ प्रेम बढ़ा कि इष्ट का साक्षात् हो जाता है।

x x x

८८

भक्ति और ज्ञान, निराकार और साकार

के झगड़ों में न पड़ो

*

भक्ति और ज्ञान के सम्बन्ध में परस्पर लोगों में बहुत सी बातें चला करती हैं। किसी के मत से ज्ञान बहुत बड़ा है और किसी के मत से भक्ति बहुत बड़ी है। जिनको न भक्ति का कुछ बोध है और न ज्ञान को ही कुछ समझते हैं, वे लोग ही भक्ति और ज्ञान सम्बन्द्ध में भेद मानकर परस्पर झगड़ा मचाते हैं। इस सम्बन्द्ध में यह बात कही जा चुकी है कि परमात्मा को जान लेने का नाम ज्ञान है और जान कर सेवा करने का नाम भक्ति है।

जिसको जानोगे नहीं, उसकी सेवा क्या करोगे। इसलिये स्पष्ट है कि बिना ज्ञान के भक्ति नहीं हो सकती। जो ज्ञान का

खण्डन और ज्ञान का समर्थन करते हैं, वे दोनों ही नहीं समझते, दोनों अन्धे हैं। अन्धों की बात का क्या विश्वास करना - आँखों वाला कोई बात कहे तो मानी भी जाय।

कई लोग साकार निराकार का भेद मान कर बड़ा विवाद उठाते हैं। परमात्मा को यदि सर्व शक्तिमान् मानते हो तो फिर कैसे कह सकते हो कि वह साकार नहीं होता या निराकार ही रहता है। परमात्मा को सर्व शक्तिमान् मानते हुए यह कहना कि वह निराकार हो है, साकार नहीं होता, सर्वथा असंगत बात है। जब उसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कहते हो तो फिर वह क्या नहीं हो सकता और क्या नहीं कर सकता भगवान के निर्गुण और सगुण रूप से समझने के लिये हम एक उदाहरण देते हैं - अग्नि सर्वत्र परिपूर्ण है । जल में भी अग्नि है, थल में भी अग्नि है, काष्ठ में भी अग्नि है, ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ अग्नि न हो । यह निर्विवाद सिद्ध है कि अग्नि व्यापक है । अग्नि के समान ही परमात्मा सर्वत्र व्यापक है ।

लकड़ी के चैले में जो अग्नि है वह निराकार रूप से उसमें स्थित है। यदि चैले को चूल्हे में डाल कर प्रार्थना करो कि अग्नि जल जाय, परन्तु प्रार्थना करने से अग्नि जलेगी नहीं। निराकार अग्नि से जब तक साकार अग्नि प्रकट नहीं

होगी तब तक कुछ काम नहीं हो सकता। निर्गुण अग्नि रह जायेगी, परन्तु तुम्हारे काम नहीं आ सकती। इसी प्रकार अग्नि के समान ही निर्गुण, निराकर परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र चराचर में पूर्णतया व्याप्त होते हुए भी वह तुम्हारे किसी काम का नहीं है। जब कुछ काम होगा

तो साकार ब्रह्म से ही होगा। यदि गुरु मिल जायें तो चैले को धर्षण करके उसी में से साकार अग्नि प्रकट कर सकते हैं और मन - चाहा काम ले लेते हैं। जब तक निराकार से साकार रूप में भगवान प्रकट नहीं हो जाते, जब तक जरूरत का कोई कार्य नहीं बनता। इसी भाव को लेकर गीता में कहा है -

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यऽहम्॥

'आत्मानं सृजामि' अर्थात मैं निराकार रूप से साकार होता हूँ। कब? जब धर्म घटता और अधर्म बढ़ता है तब। किस लिये भगवान को निराकार से साकार होना पड़ता है, यह बताते हुए कहते हैं -

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

साधुओं के कल्याण के लिए और दुष्कृतियों के संहार के लिए मैं प्रकट होता हूँ और धर्म की स्थापना करता हूँ। साधु शब्द से गेरुआ तिलक छाप या कंठी - माला वालों को न समझ

लेना। साधु शब्द का अर्थ है - अच्छे साधु वृत्तीय पुरुष जो अच्छे स्वभाव वाले हैं, जो वेद शास्त्र की मर्यादा मानने वाले हैं, स्वधर्म -

पालन में जिनकी निष्ठा है, उन्हीं के कल्याण के लिये भगवान् का अवतार होता है।

यदि साकार रूप में भगवान् न आयें तो जगत् की व्यवस्था नहीं कर सकते। जो जैसी चीज होती है उसी रूप में उसकी व्यवस्था हो सकती है। जैसे हम यहाँ बैठे हैं, आप लोगों ने हमारे सामने लाउड - स्पीकर लाकर रख दिया तो यदि हम मौन बैठे रहें तो आपको क्या लाभ होगा। निराकार का ऐसा ही स्वरूप है कि हम सर्वथा निश्चेष्ट मौन बैठे रहें। हमारे मौन बैठे रहने से आप लोगों को क्या लाभ हो सकता है? निराकार भगवान् से कोई लाभ नहीं होता, जब तक साकार रूप में न आयें। जो बात जैसी है, हम वैसी हो कहते हैं। हमें आप लोगों को वेद - शास्त्र के सिद्धान्तों को ही बताना है, अपनी तरफ से कोई बात नहीं कहनी है। हमको स्पष्ट रूप से सिद्धान्त का विवेचन करते हैं। इसकी हमें परवाह नहीं कि इसको सुनकर कौन प्रसन्न होगा, कौन नाराज होगा। हमें न किसी का रञ्जन करना है और न किसी को प्रसन्न करने के लिये कुछ कहना है। निराकारवादियों हम पूछते हैं - वैसे तो हम भी निराकार को मानते हैं परन्तु जो केवल निराकार को मानते हैं और साकार को नहीं मानते, ऐसे ही

लोगों की निराकारवादी कहा जाता है, ऐसे ही लोगों से हम पूँछते हैं - कि क्या लकड़ी के चैले में जो निराकार अग्नि है उससे क्या कोई

लाभ उठाया जा सकता है? निराकार अग्नि से कोई रोटी बनाकर दिखाये। निराकार रूप तो केवल सत्ता मात्र है।

निराकारवादी जो निराकार का ध्यान करते हैं, उस सम्बन्ध में हम उनसे पूँछते हैं कि क्या निराकार का ध्यान किया जा चकता है? कोई ध्येय बनाया जायगा तभी उसमें वृत्ति टिकेगी। पर जो निराकार है उसको ध्येय कैसे बनाया जा सकता हैं?

निराकार का ध्यान नहीं बन सकता। यदि कोई कहता है कि निराकार का ध्यान होता है तो उसका कथन उसी प्रकार है जैसे कोई कहे कि बन्ध्या के पुत्र की बारात में जा रहे हैं। बन्ध्या के पुत्र ही नहीं होता तो उसकी बारात कैसी? निराकार की जब कोई रूप - रेखा ही नहीं तो उसका ध्येय कैसे बनेगा? वृत्ति को जमाने के लिये कुछ तो आधार चाहिये। जिसका आधार लोगे वही साकार होगा।

निराकार - तत्व, ध्याता, ध्यान ध्येय, और ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय आदि त्रिपुटी से परे है। निराकार का ध्यान विडम्बना मात्र है। निराकार तत्व को न समझने वाले लोग ही निराकार के ध्यान की बात कर सकते हैं। निराकार तत्व केवल मानने

के लिए हैं ; सिद्धान्त रूप से वह स्वीकार किया जाता है ; केवल उसकी सत्ता मात्र है, उससे जगत् का कुछ उपकार नहीं हो सकता।

क्या कोई निराकार लड़के से लाभ उठा सकता है? निराकार स्कूल में जाकर, कोई पड़ सकता है? निराकार कुर्सी पर कोई मिनिस्तर बैठ सकता है? निराकार औषधि से कोई रोगी अच्छा हो सकता है? निराकार भोजन से किसी की तृप्ति हो सकती है? निराकार बिलकुल बेकार चीज है, उससे कुछ भी काम नहीं हो सकता। इससे केवल निराकारवाद सर्वथा अमान्य है, सर्वथा बेकार है।

निराकार चीज बीज के समान है, उसको उसी रूप में रखे रहो। बीज पेटी में बन्द पड़ा रहे, तो किस काम का? तक उसे बोओगे नहीं, खनन - सिंचन नहीं करोगे और जब तक वह पल्लवित पुष्पित नहीं होगा, तब तक उस बीज से क्या लाभ है?

निराकार परमात्मा ब्यापक रूप से है, सर्वत्र है। फर्नीचर कमरे में भरा है और फर्नीचर के काष्ठ में निराकार अग्नि है, पर उस कमरे का अंधकार उस व्यापक निराकर अग्नि से नहीं हटता। यदि किसी फर्नीचर को रगड़ कर निराकार अग्नि को साकार रूप में प्रकट कर लिया जाय तो तुरन्त ही कमरे का अंधकार दूर हो सकता है। परन्तु जब तक अग्नि प्रकट नहीं होगी, वह निराकार रूप में साकार

जगत् के व्यवहार में नहीं आ सकती। निराकार से जब वह साकार होगी तभी जगत् का कुछ उपकार उससे हो सकता है।

यदि परमात्मा साकार नहीं हो सकता तो क्या वह तुम्हारा पशु है कि जैसा चाहो उसको बनाओ - वह परम स्वतन्त्र है। वेद कहता है : -

'सोऽक्षरः परम स्वराट्'

अर्थात, वह अक्षर अविनाशी है।

परमात्मा परम स्वतन्त्र है। इसलिए 'वह निराकार ही है, साकार नहीं हो सकता या वह साकार ही है, निराकार नहीं है।' ऐसा मानने वाले परमात्मा - तत्व के सिद्धान्त को नहीं समझते, केवल एक पक्ष बनाकर झगड़ा मचाते हैं। साकार - निराकार के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिये। जो साकार है वही निराकार होता है। निराकार केवल मानने के लिए है और साकार जगत् का कल्याण करने के लिये।

निराकार परमात्मा जब साकार रूप में प्रकट होता है तभी उसके निराकार रूप की प्रत्यक्ष सिद्धि होती है। काष्ठ को धर्षण करने से जब व्यापक निराकार अग्नि साकार रूप होकर एक वेष में प्रकट हो जाती है तभी प्रत्यक्ष रूप से यह निश्चय होता है कि काष्ठ में अग्नि थी। उसी प्रकार निर्गुण निराकार परमात्मा का संशय विपर्यय रहित बोध तभी होता

है जब वह सगुण साकार रूप में प्रकट हो जाते हैं। जिसने काष्ठ को धर्षण करके अग्नि प्रकट कर लिया है, वही दावे के साथ निर्भ्रान्त

रूप के कह सकता है कि काष्ठ में अग्नि रहती है। साकार रूप में अग्नि प्रकट हो जाने पर ही निराकर अग्नि का काष्ठ में अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि काष्ठ से साकार अग्नि प्रकट न हो तो उसमें निराकार अग्नि का अस्तित्व ही प्रत्यक्ष रूप से नहीं कहा जा सकेगा। जब साकार रूप में भगवान् प्रकट होते हैं, तभी यह निश्चय होता है कि निराकार रूप में भी बे हैं। साकार से ही निराकार की प्रत्यक्ष सिद्धि होती है - नहीं तो निराकार को कौन कैसे जान सकता है। जैसे अग्नि निर्गुण से सगुण होती है उसी प्रकार परमात्मा भी निर्गुण से सगुण होता है। यह बात सर्वथा अमान्य है कि निर्गुण से सगुण नहीं होता। निर्गुणवादियों के द्वारा ही समाज में अधिक पाप फैलता है क्योंकि ये लोग साकार भगवान को तो मानते नहीं और निराकार के लिये सोचते हैं कि वह तो कुछ देखता - सुनता नहीं, मन - चाहा किया करते हैं ; उन्हें पाप - पुण्य से कोई मतलब नहीं।

X X X

८९

अपने किये का फल तो भोगना ही पड़ेगा।

*

चाहे आज या दस बरस के बाद या दस जन्मों के बाद, कभी न कभी अवश्य ही किये हुए कर्म का फल भोगना पड़ेगा। कोई भी कार्य छोटा हो या बड़ा, जो किया जायगा उसका फल होकर ही रहेगा। यह अवश्य है कि --

अत्युग्र पुण्यपापानां, इहैव फलमश्नुते।

अत्यन्त उग्र पुण्य किया जाय या पाप किया जाय, अति प्रभावशाली कोई भी कार्य किया जाय तो उसका फल यहीं इसी जन्म में, जल्दी ही मिलता है। सामान्य पुण्य - पापों का फल कालान्तर में जाकर मिलता है। पर ऐसा नहीं हो सकता कि किसी कार्य का फल न मिले।

जो कर्मों के फल देने वाला है, वह सर्वज्ञ है। कर्म तो जड़ होता है और कर्म का फल भी जड़ ही होता है। जड़ कर्मों के फलों का नियामक चेतन पर्मात्मा सर्वान्तर्यामी है, सर्वज्ञ है, व्यापक है। वह सबके सब कर्मों का ठीक हिसाब रखता है। जिसका जैसा कर्म होता है, उसको वैसा ही फल देता है। मनुष्यों की आँख बचाकर तो आप कोई कार्य कर सकते हो, पर परमात्मा के नेत्र में धूल नहीं झोंक

सकते। उसकी आँख बचा कर कोई कार्य नहीं किया जा सकता। इसलिये ऐसा कार्य मत करो जिसको तुम पाप समझते हो। यह नहीं भूलना चाहिये कि पाप कर्मों का फल दुःख होता है। जो कर्म करोगे

उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। अच्छे कर्म करोगे तो सुख होगा और बुरे करोगे तो दुःख मिलेगा - यह निश्चय है। बबूल का वृक्ष लगाओगे तो उसमें कांटे ही होंगे, आम नहीं फलेंगे।

x x x

९०

जैसा मन में हो, वैसा ही कहो और वैसा ही करो

*

जिन दिनों में हम जंगलों में एकान्त में रहते थे, एक समय रीवां के पास किसी जंगल में नदी के किनारे एक मन्दिर था, उसी में ठहरे। कुछ दूर पर एक गाँव था। वहाँ का एक आद्मी आया और उसने मन्दिर में पूजन किया और हमसे आकर पूँछा कि महाराज! ज्ञानी लोग तो अपने ज्ञान के बल पर मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, भक्त लोग अपनी भक्ति के कारण तर जायेंगे, और जो पतित हैं उनको पतित - पावन भगवान् का सहारा है तो फिर नरक में कौन लोग जाते हैं? हमने कहा कि इसका उत्तर कल सबेरे देंगे।

सबेरे वही आदमी आया। मन्दिर में जाकर भगवान् के सामने प्रार्थना के रूप में कहने लगा -

पापोऽहं पापकर्माऽहं, पापात्मा पापसम्भवः।

इसी प्रकार के वाक्य बहुत देर तक कहता रहा, अर्थात् मैं पापी हूँ, पापात्मा हूँ, पाप कर्म करने वाला हूँ। - यह सब कह कर जब वह हमारे पास आने लगा, तो हमने ब्रह्मचारी से कहा कि हटाओ यह पापी सबेरे - सबेरे कहाँ से सामने आ गया, इसका मुख देखने लायक नहीं है। हटाओ इस पापी को जल्दी से दूर करो।

हमारे सामने से हटकर उसने ब्रह्मचारी से कहा कि इतने पापी तो हम नहीं हैं जितना महाराज जी हमको समझ रहे हैं। यह सुनकर हमने उसको बुलवाया और कहा कि हम तुम्हें पापी नहीं कह रहे हैं, तुम्हारे कल के प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं।

तुमको हमने पापी कहा तो तुमको बुरा लगा, इससे मालूम पड़ता है कि तुम भीतर से अपने को पापी नहीं मानते। परन्तु, सबेरे - सबेरे आकर भगवान् के सामने यही कहते हो कि - पापोऽहं, पापकर्माऽहं - मैं पापी हूँ, पाप करने वाला हूँ। ऐसा तो भगवान् के सामने कहते हो, परन्तु अपने मन में अपने को पापी नहीं मानते। ऐसे ही 'मनसि अन्यत् वचसि अन्यत्' लोग नरक में जाते हैं कि जो मन में कुछ

और रखें और ऊपर से कुछ और कहें। यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। मनुष्य को भीतर बाहर एकसा रहना चाहिये, जैसा मन में हो वैसा ही कहो और वैसा ही करो तो किसी दूसरे को भी तुम्हारे द्‌वारा धोखा न होगा और तुम भी सुख - शान्ति का अनुभव करोगे।

x x x

९१

मन को ससार में अधिक न फँसाकर भगवान्

कीं तरफ लगाओ

*

संसार में मन को अधिक फँसा देना ठीक नहीं। विचार से काम लेने की आवश्यकता है। तन, मन, धन -- तीन ही हैं। यदि इन तीनों का ठीक - ठीक उपयोग करते बन जाय तो फिर अन्त समय में पछताना नहीं पड़ेगा। पहले की जो बिगड़ी सो बिगड़ी, पर ऐसा करो कि अब तो न बिगड़ने पाये। वेद - शास्त्र का सहारा लेकर चलोगे तो पतन से बचे रहोगे। एक दिन यहाँ से जाना अवश्य है अतः चलते समय के लिये कुछ पूंजी इकट्ठी कर लो जो परलोक में सहायक हो।

वस्तु का सदुपयोग करना ही बुद्धिमानी है। मन का

सदुपयोग यही है कि उससे भगवान् का चिन्तन किया जाय। संसार का चिन्तन करना मन का दुरुपयोग है।

किसी के परोपकार में शरीर को लगाना, भगवान् के भजन - पूजन में लगाना, शरीर का सदुपयोग है। दूसरे को कष्ट देना, चोरी करना, ये सब शरीर का दुरुपयोग है।

इसी तरह अच्छे कार्यों में धन को लगाना, यही उसका सदुपयोग है और बुरे कामों में लगाना दुरुपयोग है। 'दानं भोगो नाशः' धन की तीन ही गति हैं - या तो दान में खर्च होगा या भोग में या नाश हो जायगा - यही इसकी अन्तिम गति है।

जो धन न भोगा जायगा, न दान दिया जायगा तो उसकी तीसरी गति होगी ही अर्थात् नाश हो जायगा।

दान भी तीन प्रकार का है - सात्विक, राजस, तामस। सात्विक दान का उत्तम फल है। भोग का अर्थ यह नहीं हैं जैसा आजकल लोग भोगते हैं। अत्यन्त विलासी जीवन ठीक नहीं। भोग भी मर्यादापूर्वक होना चाहिये। मन की तो कभी भी विषयों से तृप्ति नहीं हो सकती और न तृप्त होने की आशा ही रखनी चाहिये। इन्द्रियाँ शिथिल हो जायँ किसी काम की न रह जायँ तो भी मन तृप्त नहीं हो सकता। भोग से किसी की तृप्ति होनी असम्भव है। थोड़ा सा अनुभव कर लो, तब भी वही बात है और दिन - रात उसी में लिप्त रहो,

तब भी वही बात। मदिरा एक कपचुप्) पियो या दस बोतल(बोत्त्ले) पियो बात एक ही है।

नशा करना है तो ऐसा नशा करो जो कभी उतरे नहीं, ऐसा नशा किस काम का कि धन भी गया और नशा भी उतर गया।

भगवान् की प्राप्ति ही ऐसा नशा है जो एक बार आकर फिर नहीं उतरता। नशा तो वही करना चाहिये, जो कभी उतरे नहीं और उसी नशे में शरीर छूट जाय।

मनुष्य जीवन में कोई काम करना हो तो सोच - समझ कर करो। ऐसा नहीं कि जो सामने आया, जैसे संगी - साथी मिल गये, वही करने लगे। अपना हानि - लाभ देख कर काम करना चाहिये। कुछ लोग सत्संग में इसलिये नहीं जाते कि उनका मध्य - मांस छूट जायगा। इस डर से सत्संग में न जाना, इससे भारी प्रमाद और क्या हो सकता है। स्वयं यदि उसे छोड़ने में असमर्थ हो तो संग अच्छा बनाओ। सम्भव है, सत्संग से ही लाभ हो जाय! अन्धकार को हटाना है तो प्रकाश का सहारा लो। प्रकाश के सामने अन्धकार अपने आप हट जायगा। प्रकाश के लिये चेष्टा करनी चाहिये। इसलिये संसार से मन को हटा कर पर्मात्मा में लगाना चाहिये, और वेदशास्त्र, साधु - महात्माओं की बात पर विश्वास करना चाहिये।

हम तो कहते हैं, पहले संसार को भज लो, फिर भगवान् को भजो तो संसार वाधक नहीं होगा। संसार का भजना यही हे कि इसके स्वरूप को जान लो। पहले संसार ही गुरु बनता है। कहीं कुटुम्बियों ने अपमान किया, कहीं पुत्र के द्वारा अपमान हुआ तो संसार से वैराग्य हो गया।

इसलिये पहिले से ही सचेत होकर भगवान की ओर मन लगाने का अभ्यास करना चाहिये।

जब तक हम धन संग्रह में समर्थ हैं तभी तक संसारियों का प्रेम है। हमेशा तो शक्तिशाली रहेंगे नहीं, एक दिन वृद्धावस्था आयेगी ही, तो जो कुट्म्बी लोग आगे चल कर हमारे साथ करेंगे वह हम आज ही क्यों न जान लें।

अभी हम उनको अपना प्रेमास्पद मानते हैं। जिस समय हमारी वह अवस्था आयेगी तो पछतायेंगे। फिर यही कहेंगे कि लड़का कहा नहीं मानता, बहू कहा नहीं मानती, जिसके लिए हमने इतना सब किया अब वही हमारा अपमान करते हैं। तो ऐसा क्यों करो जिसके लिये अन्त में रोना पड़े। अभी के उसके लिए सावधान हो जाओ। संसार में कोई किसी का नहीं है। सब अपने - अपने स्वार्थ के साथी हैं। जब तक जिसका स्वार्थ सिद्ध होता है तभी तक उसका प्रेम है। इसलिए

इन लोगों की अश्रद्धा होने के पहले ही भगवान् की तरफ झुक जाओ। यदि अभी से भगवान् का भजन् पूजन

करते रहोगे, तो कुटुम्बियों के अपमान की परवाह नहीं होगी। प्रेमास्पद तो परमात्मा ही है, उससे ही प्रेम करो तभी सुखी रह सकते हो।

X X X

९२

भगवान् के पास पहुँचना है

तो उनके नाम का सहारा लो

*

हनुमान भगवान् राम के अनन्य भक्त थे। उन्होंने भगवान् की इतनी सेवा की। परन्तु उसके बदले में कुछ चाहा नहीं - यह अनन्यता है। उच्च कोटि के सेवक के लिये कहना नहीं पड़ता ; यह भाव को जानकर काम करता है। भगवान् राम ने हनुमान को सीता की खबर लाने के लिये ही भेजा था - इतनी ही आज्ञा थी कि पता लगाकर चले आओ। परन्तु हनुमान ने लंका को भी जलाया और

रावण को लड़ने की चुनौती भी दी ; क्योंकि वह जानते थे कि रावण का विनाश करना है - इसमें भगवान् प्रसन्न होंगे।

भगवान् तो कहते हैं कि -

दुराचाररतो वामि मन्नामभजनात्कपे।
सालोक्यमुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम्॥

(१७४)

अर्थात्, दुराचारी भी यदि हमारा भजन करता है तो वह अन्य लोक - लोकान्तरों में न जाकर हमारे सालोक्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

सालोक्य मोक्ष में भगवान् में लीन होने में कुछ विलम्ब तो होता है, परन्तु गर्भवास से तो मुक्त हो ही गया। फिर इस संसार में वह लौटकर नहीं आता। दुराचारी मनुष्य जब भगवान् का भजन करने लग जाता है, तो वह भी धर्मात्मा हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं हे कि दुराचार - पापाचार भी करते चलो और भगवान् का भजन भी। भगवान् का भजन करनेवाला दुराचारी कैसे रह सकता है?

भगवान् के पास पहुँचना है, तो उन्के नाम का सहारा लो। भगवान् तो अपनाने के लिये तैयार हैं, हमारी ही तरफ से कमी है। भगवान् तीन हाथ से तो जगत् का कार्य करते हैं परन्तु एक हाथ खाली रखते हैं। उसाहरण है - जैसे स्त्रियाँ जब पानी भरने जाती हैं, तो दो घड़ा एक के ऊपर एक सर पर रख लेती हैं और एक हाथ में रस्सी व डोल, परन्तु

एक हाथ खाली रखती हैं। बच्चा जब माता की गोद में आने के लिये रोता है तब वह कहती है कि मेरा चरण पकड़ ले तो मैं एक हाथ से उठा लूँ। उसका कोई व्यापार बन्द नहीं होता। उत्पत्ति, पालन, संहार यही घड़े हैं - इन तीनों कामों को करते हुए भी भगवान् अपना एक हाथ भक्त के लिये

खाली रखते हैं। परन्तु उपाय यही है कि भगवान् का चरण पकड़ लो तभी वह उठा सकते हैं, ऐसे नहीं। भगवान् की सेवा - पूजन करना, उनका भजन करना, यही भगवान् का चरण पकड़ना है। भगवान् को अगर अपना लिया तो भगवान् भी तुम से दूर नहीं रह सकते। भगवान् का भजन करते - करते शरीर छूट गया, तो फिर जन्म - जन्म की दरिद्रता मिट जायगी।

x x x

९३

दुःख की प्रातिभासिक सत्ता है, वास्तविक नहीं

*

आजकल चारों ओर लोग अशान्त और दुःखी दिखाई देते हैं। इसका कारण यथार्थ ज्ञान का अभाव है। विवेक पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाहरी परिस्थितियाँ हमें तब तक प्रभावित नहीं कर सकतीं, जब तक हम दृढ़ता पूर्वक उनसे अप्रभावित रहने के लिये उध्योग - शील रहते हैं। जब हम अपने मन से बाह्य परिस्थितियों को सुखद या दुःखद मान लेते हैं, तभी वे हमें सुखी - दुःखी बनाती हैं। यदि निरन्तर यह भाव बना रहे कि हम स्थूल, सूक्ष्म और

कारण - शरीर, इन तीन शरीरों से परे शुद्ध सच्चिदानन्दमय आत्मा हैं, तो किसी भी परिस्थिति में दुख की अनुभूति नहीं हो सकती।

प्रारब्ध - भोग टाला नहीं जा सकता। ज्ञानी भी उसे भोगना है और अज्ञानी भी। अन्तर केवल यह है कि ज्ञानी तो प्रसन्नतापूर्वक अच्छा - बुरा सभी प्रकार का प्रारब्ध भोगता है और अज्ञानी रोते हुये भोगता है। जब यह निश्चित है कि प्रारब्ध अवश्य भोगना पड़ेगा, तब उसे प्रसन्नता के साथ ही क्यों न भोग लिया जाय। दुःख यथार्थ में है ही नहीं। उसकी तो प्रातिभासिक सत्ता है जो केवल भ्रम के कारण दिखाई देती है। जैसे किसी कमरे में पड़ी हुई रस्सी को अन्धकार में देखने वाला सर्प का अनुमान करके भय से काँपने लगता है, परन्तु जिसने सुर्य के आलोक में उस रस्सी को देखा है वह न तो कम्पित होता है और न व्याकुल। यद्यपि वह उन्हीं लोगों के बीच में है जो

रस्सी में सर्प को कल्पना करके भयभीत हो रहे हैं। इसी प्रकार से ज्ञानी भी आपके बीच में रहता है, परन्तु दुःख उसे विचलित नहीं कर सकते।

आप लोग विचार कर देखिये कि रज्जु तो सबके लिये समान था, परन्तु जो प्रकाश में उसके यथार्थ स्वारूप को देख चुका था वह अंधेरे में उसका देखकर कम्पित नहीं हुआ। जो उसके स्वरूप को नहीं जानते थे वे हो भ्रम से उसे सर्प मानकर भयभीत और दुःखी हुये। यदि किसी प्रकार उन

लोगों का भ्रम दूर हो जाता तो फिर उनके लिये दुःख का अस्तित्व ही नहीं रहता। इसका निष्कर्ष यही है कि दुःख का कारण है भ्रम। भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, इसीलिये दुःख की भी निवृत्ति हो सकती है। यदि दुःख भ्रम - मूलक न होता और पारमार्थिक सत्तावान् होता तो उसकी निवृत्ति विधाता भी न्हीं कर सकते थे ; क्योंकि सत् वस्तु का अभाव कभी भी नहीं होता।

भ्रम - नाश दो प्रकार से होता है। इसे समझने के लिये उसी रज्जुवत् सर्प के दृष्टांत को ले लीजिये। दीपक लेकर रज्जु के वास्तविक स्वरूप को देख लेने पर उसमें सर्प का भ्रम मिट सकता था। रस्सी से तो कोई भयभीत होता नहीं, केवल सर्प की कल्पना ही भय - कम्प का कारण थी। अतः अधिष्ठान का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर उसका

अस्तित्व ही नहीं रहता। भ्रम - नाश का दुसरा उपाय है - जानने वाले की बात पर विश्वास करना। जिसने उस रज्जु को दिन के प्रकाश में ठीक - ठीक समझ लिया है, उसकी बात पर विश्वास करके भी भय को मिटाया जो सकता है।

विवेक, वैराग्य, षट् - सम्पत्ति, मुमुक्षुता इत्यादि साधनों से सम्पन्न होकर ज्ञानी समाधि के द्वारा जगत् और ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। वह जानता है कि आत्म और अनात्म सभी रूपों में एक परमात्मा ही व्याप्त

है। अतः जगत् में रहते हुए भी वह द्वन्द्व रहित हो जाता है। समाधि - काल में प्राप्त किये हुये ज्ञान के बल से वह व्यवहार - काल में भी कभी व्यथित नहीं होता ; क्योंकि जहाँ अज्ञानी लोग भय देखते हैं वहाँ भी ज्ञानी ईश्वर को देखता है। चराचर सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र अधिष्ठान पर्मात्मा ही है। जैसे सर्प के अधिष्ठान रज्जु को जान लेने पर भय मिट जाता है, उसी प्रकार जगत् के अधिष्ठान परमात्मा को जान लेने पर भय के लिये कहीं स्थान ही नहीं रहता।

साधनहीनता के कारण जो परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान करने में असमर्थ हैं, वे भी यदि शास्त्र और ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुओं के शब्दों में श्रद्धा और विश्वास करना सीखों तो बहुत अंशों में उनका दुःख दूर हो जायेगा। जब तक अन्तःकरण में भ्रम बना हुआ है, तब तक लाख

उपाय करने पर भी दुःख से सदैव के लिये छुटकारा नहीं मिल सकता। व्यथित मनुष्य को यदि मदिरा पिलाकर बेहोश कर दिया जाय तो अवश्य कुछ क्षणों के लिये, जब तक मदिरा का नशा रहेगा, वह अपनी व्यथा भूला रहेगा। परन्तु नशा उतरते ही वह पुनः उसी अवस्था को प्राप्त हो जायेगा। इसी प्रकार जगत् के विषयों में मन फँसा कर कोई दुःखों से छुटकारा पाना चाहे तो यह सम्भव नहीं।

आत्मा का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण दुःख सदैव के लिये

नष्ट हो जाते हैं। एक ही चैतन्य भिन्न - भिन्न नामों से पुकारा जाता है। पर्मात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मारुप से व्याप्त है। आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं। जो आत्मा है वही चैतन्य जीव भी कहलाता है। भेद केवल उपाधि का है। उपाधि - युक्त चैतन्य ही जीव कहलाता है और सम्पूर्ण उपाधियों को त्याग देने पर वही चैतन्य आत्मा है। आत्मा और जीव का भेद ऐसा है जैसे धान और चावल का। जब तक एक भूसी बनी हुई है उसे धान कहा जाता है और जब उसकी भूसी हटा दी जाती है तब वही चावल कहलाता है। तत्वतः जो धान है वही चावल।

धान और चावल का व्यावहारिक भेद यह है कि धान में जल और मृत्तिका के योग से अंकुर उत्पन्न हो जाता है, परन्तु चावल चाहे जितने समय तक जल - मृत्तिका के संयोग में रहे उसमें अंकुर नहीं

हो सकता। इसी प्रकार जब तक शुभाशुभ कर्मों का बन्धन है, तब तक वही चैतन्य जीव है और कर्म - बन्धन क्षीण होने पर वह शुद्ध - बुद्ध आत्मा है। जीव का पुनर्जन्म ही उसका अम्कुरित होना है। शुभाशुभ कर्म जीव के के लिये भूसी के समान है। भूसी हटा देने से फिर अंकुर नहीं हो सकता। अर्थात्, शुभाशुभ कर्मों का परित्याग हो जाने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता।

जब तक भूसी लगी हुई है तब तक धान, धान ही है।

यद्यपि चावल भी उसी में है। परन्तु उसे उबालकर कोई खा नहीं सकता। यदि कोई धान उबाल कर किसी को खाने के लिये देवे तो उसे पागल ही समझा जायगा। ठीक इसी प्रकार जब तक कर्म - बन्धन नष्ट नहीं किया जाता, तब तक जीव परमानन्द की अनुभूति के वञ्चित रहता है।

अज्ञान से मोहित हुआ जीव कर्म के बन्धनों में पड़ता है। अज्ञान ही भ्रम कहलाता है। इनकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञान से होता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्र और सद्गुरु की सहायता अपेक्षित है। बिना गुरु के कोई जीवन भर माथा रगड़े, परन्तु आत्मज्ञान नहीं हो सकता। नदी पार करने वाले दस पुरुषों के दृष्टान्त में जब तक एक महात्मा ने आकर उनका भ्रम दूर नहीं कर दिया, तब तक वे अपने एक साथी के डूबने के भ्रम में विलाप करते रहे। जब महात्मा ने गणना करवा

कर बतलाया कि 'दशमस्त्वमसि' दसवें तुम हो, तब उनका शोक नष्ट हुआ। इसी प्रकार गुरु के द्वारा ही 'तत्वमसि' का यथार्थ बोध होता है।

भगवान् के अस्तित्व और उसकी दयालुता में अपना विश्वास दृढ़ करो। धैर्यपूर्वक प्रारब्ध भोग करते हुये अपने - अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का ठीक रूप से पालन करते जाओ। स्वधर्म का पालन करते रहने से अन्तःकरण पवित्र होगा और तभी आत्म - ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त

होगी। ज्ञान - प्राप्ति के लिये व्यवहार से दूर भागने का आवश्यकता नहीं। संसार का व्यवहार तो चलाते रहो, परन्तु मन को उसमें न फँसाओ। संसार में जो राग हो गया है वही बन्धन का हेतु है, संसार बन्धन का हेतु नहीं है। अतः राग का त्याग करके अक्षय सुख का अनुभव करो। हम किताबी बातें नहीं कहते, यह सब हमारी अनुभूत बातें हैं। यदि आप निष्ठा - पूर्वक इनका पालन करें तो अवश्यमेव सुखी हो सकते हैं।

X X X

९४

संसार शोक - सागर ही है

आत्म - ज्ञानी ही इसे पार कर सकता है

*

विचार - दृष्टि से देखा जाय तो संसार में सुख का लेश - मात्र भी नहीं है। यहाँ सुख की भावना करना ऐसा ही है, जैसे ससुराल की गाली सुनकर प्रसन्न होना। गाली तो गाली ही, है, उसमें प्रसन्नता कैसी? परन्तु नहीं, अनिष्ट में भी इष्ट बुद्धि रखने वाले लोग हैं। जैसे नाली में पड़ा हुआ मद्यप नाली में पड़े रहने में ही सुख मानता है ; कोई उसे हाथ पकड़ करं बाहर निकालना चाहे तो भी प्रयत्न करके वह वहीं पड़ा

रहना चाहता है। इसी प्रकार संसार में सुख की भावना करने वालों का हाल है। संसारी पदार्थों में सुख का लेश - मात्र नहीं, संसार तो शोक - सागर ही है। लिखा है कि - 'तरति शोकमात्मवित्' शोकोपलक्षित जो अज्ञान् है उसको आत्मवित् ही करता है। श्रुति कहती है -

'**आचार्यवान् पुरुषो वेद**'

अर्थात्, आचार्यवान् को ही ज्ञान होता है।

'धन्वान् पुरुषो वेद' 'पुत्रवान् पुरुषो वेद' 'स्त्रीवान् पुरुषो वेद' आदि यह नहीं कहा। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' यही श्रुति ने कहा है।

इसलिये शोक - सागर, संसार - सागर पार होने के लिए आत्म - ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

x x x

९५

भवसागर से पार होने का प्रयत्न करो

*

नौकारूढ़ होकर भी यदि डूब गये

तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होगा

*

प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि लोक में वह सुखी रहे और परलोक भी न बिगड़े। जो परलोक को नहीं जानता वह नास्तिक है। नास्तिक भी यह चाहता है कि वह सुखी और शान्त रहे। आस्तिक लोग दोनों लोक बनाना चाहते हैं। परन्तु सुख - शान्ति केवल इच्छा मात्र से तो

हो नहीं सकती। इच्छा तो केवल प्रयत्न कराने वाली होती है, सुख - शान्ति प्रयत्न करने से ही मिल सकती है। इसलिए सुख - शान्ति के लिए प्रयत्न करो और ऐसा प्रयत्न करो जो वैध हो। वैध प्रयत्न वही है जैसा शास्त्र कहता है। किसी कवि ने कहा है :-

न पीतं जाह्नवी तोयं
न गीतं भगवद् यशः
न जाने जानकी जाने जाने
यमाह्वाने किमुत्तरम्।

गंगा - जल का पान नहीं किया। अब देखना यह है कि

गंगाजल पान करने से होता क्या है? गंगाजल पान करने से पाप नष्ट होते हैं, पाप नष्ट होने से बुद्धि शुद्ध होती है और बुद्धि शुद्ध हो जाने पर भगवान् की ओर प्रेम बढ़ता है। ऐसा गंगा - जल यहाँ उपलब्ध है। सरल से सरल यह साधन यहाँ प्राप्त ही है।

भगवान् की भक्त - वत्सलता का चिन्तन और गान ही भगवान् का गुणानुवाद है। हिरण्यकश्यपु के वध के लिये भगवान् का जड़ से उत्पन्न होना उसी प्रकार है, जिस प्रकार पिपीलिका मारने के लिए तोप लगाना। भगवान् के लिए यह साधारण सी बात रही। भगवान तो उसकी मति ही बदल सकते थे। फिर प्रह्लाद कार्य तो तभी हो

गया जब - जब जिस - जिस तत्त्व से प्राह्लाद को कष्ट दिया गया तब - तब प्रह्लाद वही - वही तत्त्व हो गये। जब वे अग्नि में डाले गये तो अग्नि ही हो गये। अग्नि, अग्नि को क्या जलायेगा? जब प्रह्लाद जल में डुबोग्ये गये तो वे जल तत्त्व ही हो गये। परन्तु भगवान् ने ऐसा इसीलिए किया कि आगे के भक्तों को विश्वास हो, आश्वासन रहे। अपने यश के विस्तार के लिए वे प्रह्लाद के सामने प्रत्यक्ष प्रकट हुए। सांसारिक लोग कह सकते हैं कि भगवान् को अपने यश - विस्तार के लिए क्या पड़ी है। परन्तु यह भगवान् की भक्त - वत्सलता ही थी कि जिसके आगे के भक्त लोग गुणानुवाद करके, उनका यश - गान करके, भवसागर

को पार करें। इसी लिये इस प्रकार भगवान् प्रह्लाद के लिए नृसिंह रूप में पैदा हुए।

द्रौपदी के कष्ट में भगवान् चीर ही हो गये। इस प्रकार भगवान् का स्मरण, चिन्तन और गान करने से बुद्धि शुद्ध होती है और भगवान् में विश्वास होता है। भगवान् को जानने का साधन वेद - शास्त्र पर विश्वास करना भी है। यदि वेद - शास्त्र पर विश्वास न करोगे, तो भगवान् की सत्ता पर भी विश्वास न होगा। भगवान् की सत्ता पर विश्वास न करने से संशय बना रहेगा। संशयवान् पुरुष का न लोक ही बनता है और न परलोक ही।

भगवान् को जानोगे नहीं, विश्वास नहीं करोगे, तो ढूँढोगे कहाँ? जैसे हमको रामनगर जाना है तो हम नक्शे में देख कर पता लगावेंगे कि रामनगर कहाँ है। तब आत्म - भवन में रुकेंगे। नक्षा है वेद - शात्र। वेद - शास्त्र द्वारा भगवान् को जानो। परन्तु भगवान् को जान लेने - मात्र से तो काम चलेगा नहीं, कुछ अनुभव भी करो। अनुभव बहुत बड़ी चीज है।

एकान्तवास भगवान् के ढूँढ़ने का अच्छा साधन है। अतः एकान्त में रह कर अनुभवी महात्मा बनो। इस प्रकार साधू - सन्यासी ही नहीं, संसारी भी कर सकते हैं, क्योंकि संसारियों से ही तो महात्मा होते हैं। इनकी कोई खदान नहीं,

इन्हीं माताओं के पेट से महात्मा भी हुए हैं। आज जो दुराचार - पापाचार - रत हैं कल वे ही उच्च कोटि के महात्मा हो सकते हैं।

एक समय की बात है, हम उपनिषद् का पाठ कर रहे थे। एक परमहंस आए और कहा कि क्या आप भी पूजा - पाठ करते हैं? हमको तो बड़ा आश्चर्य हुआ। हमने कहा, आप से अधिक आश्चर्य तो हमको हुआ कि रिटायर्ड होकर आप फिर दफ्तरों में धक्का खाते - फिरते हो। हम तो आश्रमी हैं, संन्यासी हैं। आप तो अपने को पर्ममहंस कहते हो, परमहंस तो आश्रमातीत होता है। कौन संसार में व्यभिचार कर रहा है, कौन पूजा - पाठ कर रहा है - यह देखते -

फिरना तो आप का काम नहीं है। आप की वृत्ति तो निरन्तर स्वरूपाकार रहनी चाहिये। हम तो प्रिन्सिपल हैं ; स्वयं पाठ - पूजा करेंगे क्योंकि दूसरों को सिखाना है। प्रयोजन यह है कि मन इतना बेईमान है कि वेदान्त के सहारे उपासना छोड़ देने पर न जाने कब फिसल जाय। अच्छे - बुरे कर्म तो प्रारब्धानुसार होते ही रहते हैं। उपासना तो अवश्य ही होती रहनी चाहिये।

जब तक प्रारब्ध हैं, कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा। इसलिए भगवान् का चिन्तन करते हुए विहिताविहित का विचार करके कर्म करो। विहताविहित का निर्णय करने वाला शास्त्र ही हैं ; इसका निर्णय कोई कमेटी नहीं कर सकती। हमारे संचालक तो वेद - शास्त्र ही हैं। व्यवहार चलाते रहो। मन

(१८७)

भगवान् में लगाओ। अन्त समय में भगवान् का चिन्तन करते हुए जाओ। ऐसा न कर पाये तो कुछ भी नहीं कर पाये - नौकारूढ़ होकर भी नदी में डूब गये।

x x x

सिवाय परमात्मा के कोई सहायक नहीं

*

इस संसार में रहना किसी को नहीं। यहाँ तो धर्मशाले का निवास है। आ गये हो, दुर्लभ मानव शरीर मिल गया है, भव - सागर से पार हो सकते हो। इसी शरीर से ज्ञान - भक्ति पैदा कर सकते हो। अब न किया, अब न बनाया, तो कब बनाओगे? परमात्मा व्यापक है, सर्वत्र है ; किन्तु हम एकदेशीय हैं। इसलिए हम व्यापक परमात्मा को भक्ति - द्वारा एक - देश में प्रकट करें, तभी हमारा काम बनेगा। साकार - निराकार है क्या? काष्ठ में अग्नि सर्वत्र परिपूर्ण है, परन्तु आप उससे जलते नहीं। चूल्हे में चैला लगा कर चाहो कि रोटी बन जाय तो क्या रसोई बन जायगी? उसी काष्ठ को घर्षण करके अग्नि प्रकट कर लो तो सब काम सिद्ध हो जायगा।

परमात्मा अखण्ड है, प्रत्येक देश - काल - वस्तु में है। कहीं भी कोई ऐसी वस्तु नहीं, जहाँ परमात्मा न हो। सर्वशक्तिमान् होते

हुए भी परमात्मा में एक शक्ति नहीं है। वह यह कि यदि वह चाहे भी तो हम से अलग नहीं हो सकता। अब आप ही बतावें, इतना हमारा और परमात्मा का अभेद होते हुए भी हम दुखी हैं, तो किसकी ओर से गलती है?

द्रौपदी का उदाहरण देखिये। पाँचो पति एक से एक वीर, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य एक से एक महारथी बैठे थे। एक कुलाङ्गना की बेइज्जती की जा रही थी। संसारियों का इस्तीफा देखो। इससे बड़ा ज्वलन्त उदाहरण और क्या मिल सकता है? आप चाहें कि पिता, पुत्र, भाई, बहिन, पति से कुछ सहायता मिल सकती है, तो सर्वथा असम्भव। परमात्मा न करे कोई आपत्ति का समय आये, नहीं तो सब सम्बन्धी इस्तीफा दे देंगे। सिवाय परमात्मा के कोई सहायक नहीं होगा। ऐसी भावना ही अनर्गल है कि अमुक हमारी रक्षा करेगा। जब द्रौपदी की रक्षा के लिये बड़े - बड़े महारथियों ने इस्तीफा दे दिया तो तुम्हारे सहायकों को क्या गिनती है! संसारियों से केवल शिष्टाचार चलाये जाओ, ये रागास्पद नहीं हैं। द्रौपदी को जब संसारियों से निराशा हो गई, तब भगवान् आये। प्रह्लाद के लिए जड़ से प्रकट हुए। यह भगवान् की व्यापकता है। परन्तु व्यापक परमात्मा से हमारा लाभ नहीं। व्यापक अग्नि से आपका काम नहीं हो सकता। काम के लिये काष्ठ का घर्षण करके अग्नि को एक - देश में लाना ही पड़ेगा। इसी प्रकार परमात्मा

को भी उपासना द्वारा एक - देश में लाने से ही कल्याण है। भगवान् को देश में आने में कोई आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि वे स्वयं कहते हैं कि -

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भअवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंअस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे॥

इतना ही नहीं, भगवान् यह भी कहते हैं कि :-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात्, जो जिस प्रकार से मेरा स्मरण करता है, मैं उसी प्रकार से उसका स्मरण करता हूँ। कितना बड़ा आश्वासन भगवान् दे रहे हैं। अब भी हम न चेते तो हमारा दुर्भाग्य!

x x x

९७

जाति - पांति कल्याण - कारक नहीं

*

भगवान के भजन और स्वधर्म पालन

से काल्याण होगा

*

जन्म तो कर्म के आधीन है, परन्तु भगवान् की दयालुता कर्म के आधीन नहीं है, वह भाव के आधीन है। कोई भी - चाहे

(१९०)

वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो - भगवान् में भाव बना कर भगवान् को प्राप्त कर सकता है। भगवान् का गुणानुवाद मनुष्यमात्र कर सकता है; ऐसा नहीं कि केवल ब्राह्मण ही भगवान् का गुणानुवाद कर सके। भक्त तो चारों वर्णों के लोग हो सकते हैं, परन्तु आचार्य चारों वर्ण के लोग नहीं हो सकते। इसके लिये तो आदि - शङ्कराचार्य का डंका है कि -

"**यावत् वित्तोपार्जन सक्तः तावन्निज - परिवारोक्तः,**
पश्चात् धावति जर्जर देहे वातां कोऽपि न पृच्छै गेहे।"

इसलिये -

"**भज गोविन्दं, भज गोविन्दं। भज गोविन्दं मूढ़मते।**"

कोई भी हो, किसी जाति का हो वृद्धावस्था आने के पहले ही सचेत होकर भगवान् का भजन - पूजन पर्याप्त कर ले, इसी में कल्याण है। कल्याण किसी जाति में पैदा होने से नहीं होगा। कल्याण तो होगा भगवान् के भजन से और भगवान् के भजन का मनुष्य मात्र को अधिकार है। ब्राह्मण होने से ही मुक्त हो जायगा, ऐसी बात नहीं है। यदि भगवान् की भक्ति है तब तो ठीक है, नहीं तो ब्राह्मण भी नरक

का अधिकारी हो सकता है और भकिमान् शूद्र भगवान् को प्राप्त कर सकता है। जहाँ कल्याण होता है, वहाँ न कोई ब्राह्मण है, न

क्षत्रिय है, न वैश्य है, न शूद्र है। परमार्थ में कोई भेद ही नहीं है, भेद तो व्यवहार में है।

X X X

९८

दुर्जन के लिये दुर्जन बनना

निन्दक के लिये स्वयं निन्दक बन जाना

उचित नहीं

*

"**क्षमा खड्गः करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति** "

अर्थात् क्षमा रूपी खड्ग जिसके हाथ में है उसका दुर्जन कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

"**अतृणे पतिते त्रहिः स्वयमेवोपशाम्यति** "

जहाँ तृण न हो वहाँ अग्नि का अङ्गार गिरे भी तो क्या करेगा? स्वयं ही शान्त हो जायगा। इसी प्रकार जो क्षमावन्त हैं, उनके प्रति किए गए दुर्जनों के दुर्व्यवहार स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं। इसी लिये सदैव ही उपेक्षावर्ती का सहारा लेना चाहिए।

इसी प्रकार मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन्हीं चार वृत्तियों में रहते हुए व्यवहार चलाना चाहिये। और किसी

(१९२)

पाँचवीं वृत्ति का सहारा नहीं लेना चाहिये। ऐसा करोगे तो कभी अशान्त होने का अवसर नहीं आयेगा।

धन के दुरुपयोग के सम्बन्ध में यह बात है कि नम्बर एक का दुरुपयोग यह है कि पापाचार - दुराचार में धन खर्च किया जाय। नम्बर दो का दुरुपयोग यह है कि पूर्व की कमाई खाकर आगे के लिए कुछ संचय न किया जाय। धन को बुरे कामों में न भी लगाओ तब भी यदि उसको सत्कार्य में न लगाया गया तो उसका दुरुपयोग ही है। दुष्कर्म में धन का उपयोग न करते हुये यदि सत्कर्म में नहीं लगाया जा रहा है तो यही नम्बर दो का दुरुपयोग है।

धन का उचित उपयोग यही है कि उसकी ' प्रथम् गति हो अर्थात् सत्पात्र में उसका व्यय हो।

जीवन के सदुपयोग के लिये सचेष्ट रहना चाहिये। आज - कल लोग जाति - पाँति के फेर में पड़ कर ही व्यर्थ के वर्गवाद् में जीवन का अमूल्य समय नष्ट करते हैं। किसी जाति में जन्म हो गया, बस भगवान् को छोड़कर जातियों के संगठन के फेर में पड़ जाते हैं। जहाँ कहीं जिस जाति में जन्म हो गया हो, उसी से किसी तरह जन्म - मरण रूपी कारागार से निकलने का प्रयत्न करना चाहिये, न कि एक जाति रूपी कारागार का समर्थन करते रहो। अपनी जाति - पाँति से इतना ही लाभ उठाना चाहिये कि उसमें जो वेद - शास्त्रानुसार अच्छी बातें हों

उन्हें तो अपनाओ और जो वेद शास्त्र के विरुद्ध प्रथायें हों उनसे कोई सम्बन्ध न रक्खो, उनका त्याग कर दो। इसी में जात्याभिमान की सार्थकता है। यह निश्चय रखना चाहिये कि अच्छी बात वही है जो वेद - शास्त्र के अनुकूल है। केवल हमारे विचार से कोई बात अच्छी - बुरी नहीं हो सकती। अच्छी बात वही है, जिसे वेद - शास्त्र अच्छा कहता है और बुरी बात वही है जिसे वेद - शास्त्र बुरा कहता है।

धन की इच्छा हो तो ऐसे धन का संग्रह करो जो साथ जाय। जिसको यहीं छूट जाना है ऐसे 'टेम्परारी' धन का संग्रह करने से क्या लाभ?

यह बात जरूर है कि अविवेक कारण -

"**धनाहा जीविताशा च जीर्यत्ऽपिनजीर्यते।**"

धन संग्रह करने की और जीते रहने की इच्छा जीर्ण - शीर्ण हो जाने पर भी नहीं मिटती। इस पर एक दृष्टान्त है कि :-

एक बहुत बृद्धा स्त्री थी। किसी तरह से लकड़ी बीन - बीन कर बेचकर अपनी आजीविका चलाती थी। उसका जीवन कष्टमय था। एक दिन जंगल में लकड़ी बीनते - बीनते लोभ के कारण उसने बहुत बड़ा गट्ठर बाँध लिया जो उससे उठाया नहीं उठता था। गट्ठर उटाने का उसने कई बार प्रयत्न किया, परन्तु उठा न सकी। अन्त में निराश होकर बड़े दुःख

के साथ उसने कहा कि यदि किसी तरह मृत्यु आ जाती तो मैं इस जंजाल से छूट जाती। उसने इतना कहा ही था कि मृत्यु सामने आकर खड़ी हो गई। मृत्यु ने कहा कि कहिये माताजी किसलिए बुलाया है? वृद्धा ने पूँछा कि तुम कौन हो? मृत्यु ने कहा कि मैं मृत्यु हूँ ; आपने अभी मुझको बुलाया, इस लिए मैं आई हूँ। बृद्धा ने कहा कि अच्छा हुआ, तुम आ गये। इसी गट्ठे को उठाने के लिए बुलाया था।

तात्पर्य यह है कि प्राणी चाहे जिस स्थिति में हो, वह मरना नहीं चाहता। परन्तु यदि केवल खाते - पीते हुये ही जीते रहना है तो ऐसे जीने से कोई लाभ नहीं। जीना वही सार्थक है कि जों कुछ आगे के

लिए बनाया जाय। यदि केवल विषय - भोग के लिए जीना है तो इस प्रकार पाप सम्ग्रह करते हुए जीने से तो मर जाना ही अच्छा है।

व्यवहार में यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि अपने से यदि किसी की भलाई न हो सके, तो किसी की बुराई भी न करना। साथ ही साथ भगवान का भजन - पूजन कुछ न कुछ अवश्य करते रहना। मन तो चंचल है, मन लगे या न लगे, भजन - पूजन में समय खर्च करना चाहिये। यदि अभी नहीं लगता है तो थोड़े दिनों में लगने लगेगा, परन्तु करते जाना चाहिये। जिस गिलास में पीनी पीते हो, उसी गिलास से थोड़े दिनों में प्रेम हो जाता है, क्योंकि जब दूसरा

गिलास आता है तो ऐसा लगता है कि वह पुराना गिलास कहाँ गया। इसी प्रकार जिस छड़ी को रोज हाथ में लेते हो, कुछ दिनों में उससे प्रेम हो जाता है। वैसे ही भगवान् के नाम को जपते - जपते, उस नाम में भी छड़ी - गिलास के समान प्रेम हो जाएगा। इसलिए बिना मन के भी भगवान् का नाम लेते रहना चाहिये, मन कहीं तो जाने दो।

x x x

९९

त्याग और ग्रहण से मुक्त होकर

स्वरूपानन्द में निमग्न रहो।

*

त्यागोगे क्या?

संसार तो पहले से ही त्यक्त है। शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि जितने पदार्थ हैं वे तो तुमसे अलग हैं ही, उनकी सत्ता ही तुमसे भिन्न है। जब संसार तुमसे अलग ही है तो उसको त्यागोगे क्या? तुम्हारे त्यागने के पहले ही वह तुम से त्यक्त है, अलग है। इसलिए किसी के त्याग की बात कहना या त्याग का भाव मन में बनाना मिथ्या दम्भ ही है। मरे को मारने से क्या गौरव? कोई मरे हुए शेर को गोली मार कर कहे कि मैने शेर का शिकार किया है - वह इसी तरह की

बात है, जिस प्रकार यदि कोई कहे कि मैने अमुक वस्तु का त्याग किया है। संसार में सब कुछ त्यक्त ही है, कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो त्यागने योग्य हो। स्वभाव से तो सभी कुछ तुमसे त्यक्त ही है।

ग्रहण क्या करोगे?

संसार में ग्रहण करने योग्य कुछ भी नहीं है, क्या ग्रहण करोगे? यह जो कुछ देख रहे हो, सब मदारी के रुपये के समान मिथ्या है, इसमें

कोई तथ्य नहीं है। ग्रहण करने योग्य तो वह वस्तु तो सकती है जो सुखास्पद हो या शान्ति - प्रद हो। संसार की सभी वस्तुइँ क्षण - भंगुर हैं, वियोगान्त हैं। इनके संयोग में जितना सुख नहीं मिलता उतना इनके वियोग में दुःख होता है और इनका संयोग भी परिणाम में दुःखद ही होता है। इसलिए कोई भी वस्तु यहाँ की संग्रहणीय नहीं है, संसार में तो कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं है।

तत्व दृष्टि से देखो तो भी 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' की भावना से देखो। यह संसार सब ब्रह्म ही है, यहाँ स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। तो फिर जब सब कुछ अपना स्वरूप ही है, अपने से भिन्न कुछ दूसरी वस्तु ही नहीं है, तो ग्रहण किसका करोगे? इस प्रकार भी संसार में ग्रहण करने योग्य कुछ नहीं है। अतः किसी भी दृष्टि से संसार में ग्रहण करने योग्य कुछ है ही नहीं।

(१९७)

इसीलिए कहा जाता है कि यहाँ न कुछ ग्रहण करने की भावना बनाओ और न कुछ त्यागने की ही इच्छा करो। त्याग ग्रहण से सर्वम्था अलग रहो। जब न कुछ त्यागने की इच्छा करोगे और न कुछ ग्रहण करने की इच्छा तो वासना रहित होकर अपने स्वरूप में स्थिति हो जाओगे। इसीलिए विचार करते हुए यह बात अपने मन में दृढ़ कर लो कि यहाँ न कुछ त्यागने योग्य है और न कुछ ग्रहण करने

योग्य। ऐसा विचार पुष्ट करके अपने स्वरूपानन्द में निमग्न रहो - यही मनुष्य - जन्म की सार्थकता है।

x x x

१००

अविवेक से मनुष्य बहुत कष्ट उठाते हैं

*

सर्वदानन्दमय सर्वशक्तिमान् भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं। सबके हृदय में अभेद रूप से स्थित हैम् ; फिर भी लोग दुःखी और अशान्त देखे जाते हैं। संसार का सारा दुःख और सारी अशान्ति अविवेक के ही कारण है। सुख शान्ति के भण्डार - स्वरूप भगवान् का तो अन्दर ही निवास है, परन्तु अविवेक के कारण सुख - शान्ति की प्राप्ति के लिए लोग बाहर भटक रहे हैं। भौतिक सामग्री संचय में सुख - बुद्धि हो गई है, यही सारे दुःखों और कष्टों का कारण है।

औरों को क्या कहा जाय, द्रोपदी तक को भ्रम हो गया था। जब दुःशासन ने उठकर द्रोपदी की साड़ी खींचना प्रारम्भ किया तो एक बार द्रोपदी ने एक से एक महाबलशाली अपने पाँचो पतियों की ओर

देखा, पितामह भीष्म की ओर भी देखा। जब सब असहाय से बैठे रह गये, तब द्रोपदी को पता चला कि आपत्ति - काल में कोई भी सहायक नहीं होता। बड़ी - से - बड़ी भौतिक सामग्री समय आने पर सब बेकार सिद्ध हो जाती है और हितैषी सब मुँह फेर लेते हैं। यह सोचकर निस्सहाय अवस्था में उसने भगवान् कृष्ण का समरण किया - उन्हें पुकारा - "हे नाथ! द्वारिका - वासिन्!"

अब यहीं विचार का विषय है। यदि द्रोपदी को विवेक होता तो वह भगवान् को द्वारिका - वासिन् कह कर न पुकारती। भगवान् तो अहर्निष अन्तर्यामी अन्तर्वासिन् हैं। भगवान् को अपने निकट अपने में न देखकर द्रोपदी ने उन्हें द्वारिका से बुलाया, यही अविवेक है। सर्वशक्तिमान् भगवान् को सदा सर्वदा सर्वव्यापक न मानना ही सबसे बड़ा अविवेक है। इसी के कारण लोग अनन्त दुःख भोगते हुए भी भगवान् की कृपा प्राप्त नहीं कर पाते।

जब द्रोपदी का चीर बढ़ने लगा तो द्रोपदी समझ गई कि भगवान् आ गये। तब उसने कहा - "भगवन्! आपको आने में कुछ विलम्ब हुआ।" भगवान् ने कहा - " द्रोपदी! मैं तो

तेरे पास ही था, तूने मुक्ते द्वारका से बुलाया (द्वारका - वासिन् कह कर) तो मुझे वहाँ जाकर फिर आना पड़ा, इसी में विलम्ब हुआ।"

स्पष्ट ही है कि भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं और भक्त पर सब प्रकार का अनुग्रह करने को तैयार हैं।

" जो मुझे जैसा भजता है, उसे मैं वैसा ही मानता हूँ," यह भगवान् की प्रतिज्ञा है :-

"**ये यथा माँ प्रपद्यन्ते**
तां स्तथैव भजाम्हम्।"
- "गीत "

इसलिए भगवान् को सर्वत्र विराजमान मानते हुए उनकी उपासना करके एक बार उनकी कृपा के पात्र बन जाओ, तो फिर सदा के लिए दुःख और अशान्ति से छुटकारा मिल जाएगा।

X X X

१०१

स्वार्थ प्रबल है

*

संसार इतना स्वार्थी है कि मनुष्य का चमड़ा यदि किसी काम में आता होता तो चमड़ी खिंचवाकर चिता पर भेजता।

इसमें लेश - मात्र भी सन्देह नहीं है। जब तक लोगों का स्वार्थ सिद्ध होता है तभी तक सब मान - सम्मान और अनुराग दिखाते हैं। भगवान् आदि - शंकराचार्य ने ठीक कहा है :-

यावत् वित्तोपार्जन सक्तः
तावन्निज परिवारो रक्तः।
पश्चाद्धावति जर्जर देहे
वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे॥

अर्थात्, जब तक धन कमाने की सामर्थ्य है, सब तक अपने स्वजन कुटुम्बी लोग भी अनुराग करते हैं। फिर जब वृद्धावस्था आती है और शरीर जीर्ण - शीर्ण हो जाता है, तब घर में उससे कोई बात भी नहीं पूछता। इसलिए -

'**भज गोविन्दं**' '**भज गोविन्दं**'। '**भज गोविन्दं मूढ़ मते॥**

हे अज्ञानी! मतिमन्द जीव! भगवान् का भजन कर।

x x x

१०२

भौतिकवाद सुख - शान्ति देने में समर्थ नहीं

*

भौतिक उन्नति माया के प्रसार की ही उन्नति है। माया के सहारे सुख - शान्ति की इच्छा करना अन्धकार को अन्धकार से ढूढ़ने का प्रयत्न करना है। जिस प्रकार बिल के ऊपर

लाठी पीटने से अन्दर का सर्प नहीं मारा जा सकता, उसी प्रकार शारीरिक भोग - विलास की सामग्री के बाहुल्य से सूक्ष्म शरीर (मन) में होने वाली अशान्ति को भी नहीं मिटाया जा सकता। सुख - दुःख मन में होता है। सोये हुए को गाली दो, तो उसे दुःख नहीं होगा ; क्योंकि उसका मन उस समय अपने कारण अविद्या में लीन रहता है। तात्पर्य यह है कि मन ही सुखी - दुःखी होता है। इसलिये मन जब तक त्रृप्त नहीं होगा, तब तक अशान्ति जा नहीं सकती। मन तब तक भटकता रहेगा, जब तक वह पूर्णानन्दमय भगवान् न प्राप्त न कर सकेगा। जैसे छोटे - छोटे बच्चों को खिलौना देकर बहलाते हो, वैसे ही आप लोग धन, स्त्री, पुत्र, मान - प्रतिष्ठा आदि से मन को बहला सकते हो। पर ये वस्तुयें मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं। मन उसी को पाकर सन्तोष मानता है जो सब से बड़ी वस्तु है। संसार में परमात्मा ही ऐसी बड़ी वस्तु है जिसके जान लेने के बाद और कोई वस्तु जानने योग्य नहीं रह जाती।

x x x

१०३

उदर पोषण के लिये

अपने भाग्य पर विश्वास रखो

*

किसी के दबाव में आकर अनुचित कार्य करके

पाप का संग्रह मत करो

*

"**यदस्मदीयं न हि तत्परेशाम्** " जो हमारे भाग्य में है वह अवश्य ही हमें मिलेगा, उसे कोई दूसरा नहीं पा सकता - यह कर्म - मीमांसा - शास्त्र का अकाट्य सिद्धान्त है। हमारा तो यह कई बार का सिद्ध अनुभूत प्रयोग भी है। ऐसे घनघोर वनों में जहाँ कोई मनुष्य की कल्पना भी नहीं कर सकता है। वहाँ अपना भाग्य अपने साथ रहता है! प्रारब्ध का भोग्य वहाँ भी प्राप्त होता है। जिस समय प्रारब्ध समाप्त हो जायगा, उसी समय शरीर छूट जायगा। यह निश्चय है - जब तक शरीर है, तब तक प्रारब्ध का भोग अवश्य है, इसमें सन्देह की बात नहीं। इसलिये अपने योग - क्षेम के लिये चिन्तन होना, अपने पूर्व संचित - कोष की विस्मृति का परिचायक है।

जो पहले की कमाई है वह तो मिलेगी ही, इसमें सन्देह नहीं। बैंक में जमा किया हुआ रुपया अपने को ही मिलेगा, इसमें सन्देह ही क्या? संसारी बैंक का रुपया तो कभी बैंक के फेल होने पर डूब भी जा सकता है ; परन्तु अपने कर्मों के फल जिस बैंक में जाकर जमा होते हैं, वह बैंक कभी फेल होने वाला नहीं है। वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् का अक्षय कोष है, जिसमें कभी हिसाब में भी भूल नहीं हो सकती। अतः जिसने जो जैसा किया है, वह उसे रत्ती - रत्ती भोगना पड़ेगा।

अपने समीप जो आता है वह अपना ही प्रारब्ध - भोग है। पर जो सामने आये उसे विचार - पूर्वक ही भोगना चाहिये। मनुष्य और पशु में केवल यही अंतर है कि पशु उचितानुचित का विचार नहीं कर सकता कि क्या उचित है और क्या अनुचित। आप मनुष्य हैं, इसलिये उचितानुचित का विचार करते हुए ही व्यवहार चलाओ।

कभी भी किसी के दबाव या संकोच में आकर कोई ऐसा कार्य मत कर बैठो जिसमें पाप का संग्रह हो। पाप से आगे का मार्ग बिगड़ता है। जैसा पहले कर आये हो उसका फल इस समय भोग रहे हो - इसी से शिक्षा लेकर ऐसे उत्तम कार्य करो जिससे आगे तरक्की में जाओ। कहीं ऐसा न हो कि जिसने भोजन - वस्त्र का प्रबन्ध कर दिया, उसके अच्छे - बुरे सभी कार्यों का समर्थन करने लगे। "**जाकर खाई ताकर दुहाई** "

तो कुत्तों का काम है ; मनुष्य को तो विचार - पूर्वक कार्य करना चाहिये। उचित का ही समर्थन करो और अनुचित का यदि खंडन नहीं कर सकते तो कम से कम उससे तटस्थ तो रहो।

x x x

१०४

जितना हो सके शुभ कार्यों का सम्पादन करो

*

आत्म - सुख की प्राप्ति इन्द्रिय संयम से होगी, विषयोपभोग से नहीं

*

इन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध का ही अनुभव होता है। क्योंकि इन्द्रियाँ वहिर्मुखी होने के कारण केवल बाहर के ही विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं, अन्दर का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता। आत्मा अपने निकट से निकट है, नित्य प्राप्य है, कभी भी उसका अभाव नहीं होता - फिर भी हम उसे देख नहीं पाते, जान नहीं पाते। जो सब को देखने वाला है उसको किससे देखा जाय? आँखें सब

को देखती हैं ; परन्तु स्वयं अपने को नहीं देख पातीं, उन्हें देखने के लिये दर्पण चाहिये। आत्मा को देखने का दर्पण अन्तःकरण

(२०५)

है - अतः माने 'भीतरी' कारण माने 'ज्ञान' का साधन। आन्तरिक ज्ञान का साधन होने के कारण इसे अन्तकरण कहते हैं। दर्पण यदि स्वच्छ होता है, तभी उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है। मलिन दर्पण में कभी भी प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार निर्मल अन्तःकरण में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है ; मलिन अन्तःकरण वाले उसे नहीं देख सकते। इसलिये अन्तःअकरण को स्वच्छ बनाने की आवश्यकता है।

जाति, कुल, रूप, यौवन, धन, मान इत्यादि का अभिमान करना अज्ञान है। जब तक इनके अभिमान का त्याग नहीं किया जाता, तब तक आत्मा का ज्ञान कैसे हो सकता है। अज्ञान के नाश होने पर ही आत्मा का ज्ञान होता है। अज्ञानी अपने को परमात्मा से अलग मानता है और स्थूल शरीर को ही वह अपना स्वरूप समझता है। नाश होने वाले जगत् के पदार्थों में उसकी विशेष आसक्ति रहती है। इसी लिए किसी न किसी निमित्त को लेकर वह दुःखी होता रहता है।

शास्त्र और गुरु लोग जगत् को मिथ्या बताते हैं। मिथ्या वह है जो दिखे तो, परन्तु जिसकी सत्ता स्थिर न हो - जैसे मन्दान्धकार में पड़ी हुई रज्जु को देखकर किसी को उसमें सर्प का भ्रम हो जाय, पर

वास्तविक सत्ता सर्प की नहीं है ; परन्तु भ्रमकाल में तो उसकी प्रतीति सत्य ही है। जब तक ठीक - ठीक रज्जु का ज्ञान नहीं होता, तब तक

सर्प - भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती। अब इस भ्रम को दूर करने के लिए कोई लाखों रुपये व्यय करके अश्वमेध यज्ञ आदि करे तो इससे भी वह भ्रम दूर नहीं होगा। भ्रम मिटाने का उपाय यह है कि दीपक लेकर उसके प्रकाश में रज्जु कों ठीक ठीक देख लिया जाय। रज्जु का निश्चय बोध हो जाने पर ही वह व्यक्ति किसी के प्रयत्न करने पर भी रज्जु को सर्प नहीं मान सकता। इसी प्रकार जिसे जगत् के अधिष्ठान - रूप परमात्मा का बोध हो चुका हैं, वह कभी भी जगत् को सत्य नहीं मान सकता। अज्ञानी ही उसे सत्य मानते है। जगत् के मिथ्यात्व का बोध हो अज्ञान - निद्रा से जागने पर होता है। जागृत अवस्था लाने के लिए बन में जाने की आवश्यकता नहीं है। बन में रहने मात्र से किसी को ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। न जाने कितने कोल - भिल्ल बनेचर वहाँ रहते हैं, पर महामूर्ख हैं। एकान्तवास तब लाभदायक हो सकता है। जब अज्ञान को मिटाने के साधन प्राप्त हों। अज्ञान को दूर करने के साधन सद्गुरु और शास्त्रों से प्राप्त होते हैं। परन्तु जो शास्त्रों पर ही श्रद्धा नहीं करता, महात्माओं के बचनों का विश्वास नहीं करता, उसके अज्ञान की निवृत्ति कैसे हो सकती है? इसीलिए लिए विश्वास सम्पादन करने की आवश्यकता है।

"**असंशयवतां मुक्तिः**
संशयाविष्ट चेतसाम्।

(२०७)

न मुक्तिर्जन्म जन्मान्ते
तस्माद् विश्वासमाप्नुयात्।"

सारांश में, मुक्ति का अर्थ है - संसार में लौट कर न आना। दूसरा अर्थ यह है कि दुखों का स्पर्श न हो।

जिसे स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदि की वासना नहीं है, उसे अवश्य आत्मा का अनुभव हो सकता है। आत्मा को तत्वतः जानने वाला ही शोक - सागर से पार होता है।

अन्तःकरण वासनाओं से मलिन रहता है ; इसलिए वासनाओं को नष्ट करने की आवश्यकता है। भोग के द्वारा कोई वासनाओं को तृप्त नहीं करना चाहे तो यह 'न भुतो न भविष्यति' - न हुआ है न और न हो सकता है। तृप्ति विचार से होती है, चाहे आज करो, चाहे दस वर्ष बाद। इन्द्रियाँ जब शान्त होंगी तब विचार के द्वारा हों। भोग से भोग की वासना और दृढ़ होती है। कहीं खुजलाने से आज तक किसी की खुजली अच्छी हुई हो तो हम यह भी आशा करें कि विषय - भोग से इन्द्रियाँ शान्त होंगी।

सब जानते हैं कि साथ में कुछ नहीं जाता, अपना शरीर भी चिता तक ही जाता है। पर वेद - शास्त्रों पर विश्वास करो तो साथ जाने वाली भी एक वस्तु है। परलोक - मार्ग में जीव के साथ उसके किये हुए शुभाऽशुभ कर्म जाते हैं। शुभ कर्म

करने वाला उत्तम लोकों को प्राप्त होता है और अशुभ कर्म करने वाला नरक को। इसलिये जितना हो सके, शुभ कर्मों फा सम्पादक करो।

X X X

१०५

सतर्क रह कर जीवन का सदुपयोग करो

*

संसार में तीन चीजें हैं - तन, मन और धन। यही संसार कहा जाता है। तन - मन - धन का उपयोग बन जाय तो कभी अशांति न आवे। इनका उपयोग नहीं बनता, इसी से अशान्ति भोगनी पड़ती है। इसका उपयोग सिखाने के लिये कोई स्कूल कालेज नहीं है। धन की तीन प्रकार की गति - होती है - जो न दान देते हैं और न उसका अपने

लिये ही उपयोग करते हैं, उनका धन तृतीय गति को अर्थात् नाश को प्राप्त होता है। तुलसीदास ने भी लिखा है :-

"**सो धन धन्य, प्रथम गति जाकी।**"

अर्थात् वह धन धन्य है, सार्थक है, जिसकी प्रथम गति हो, जो दान में व्यय किया जाय। तुलसीदास ने तो केवल धन के ही लिये कहा है, पर हम कहते हैं कि -

"**सो तन धन्य प्रथम गति जाकी।**"
"**सो मन धन्य प्रथम गति जाकी।**"

अर्थात्, वह तन और मन भी धन्य है, जिसकी प्रथम गति हो।

तन की प्रथम गति है कि शरीर भगवान् की अर्चना पूजा में लगा रहे - आंख भगवान् के रूप को देखे ; कान भगवान् का यश सुने, वाणी भगवान् का यश गान करे। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय भगवत्संबंध को अपना विषय बना कर भगवान् रस - पान करती रहे। प्राण भगवान् की आराधना में लगा रहे - यही तन की प्रथम गति है। मन की प्रथम गति है - भगवान् में ही मन लगा रहे। धन की प्रथम गति कही गई है - सत्पात्र में दान, परन्तु दान के पहले उचितानुचित विचार पूर्वक ही उसका अर्जन होना चाहिये। ऐसा नहीं होना चाहिए कि जैसा मिला, वैसा ही अर्जन कर लिया। अनर्थ और पाप के द्वारा जो धन कमाया

जायगा वह धन तो यहीं पड़ा रह जायगा, परन्तु पाप का फल अपने साथ जायगा, पाप पीछा नहीं छोड़ेगा। इसलिये धन - संग्रह में पाप न होने दो। पाप धन के साथ यहीं छूट जाय, ऐसा नहीं होगा। इससे धन - संग्रह में बहुत विचार करना चाहिये।

एक महात्मा ने ऐसी सिद्धि प्राप्त कर ली थी कि जो कोई उनके पास आता था, उसके अच्छे - बुरे कर्मों को वह कह देते थे। एक समय हमारा उनका समागम हो गया। कहीं से घूमते हुये हम उसी तरफ से निकल पड़े। हमने उनसे कहा

कि जगत् पाप करता है और उसका चिंतन आप करते हो, यह तो बड़ा घाटा है। जिस मन को परमात्मा में लगा रहना है, वह मन जगत् के किये हुये अनाचार - पापाचार का चिन्तन करे - यही मन का दुरुपयोग है। साधु होकर फिर मन का इतना दुरुपयोग!!

तन - मन का और भी एक प्रकार से दुरुपयोग किया जाता है कि लोग जाति - पांति के समर्थन में ही लगे रहते हैं। मनुष्य का शरीर मिला है ; किसी जाति में उत्पन्न हो गये - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र - किसी भी वर्ण में जन्म हो गया तो भगवान् के स्मरण का सब को अधिकार है और भगवान् के निकट पहुँचने का भी सब को अधिकार है। बीच में, क्लास में अन्तर रहे, यह अन्तर कोई ऐसा विषय नहीं है जो बहुत अधिक विचार की चीज हो। जहाँ जन्म हो

गया, तो हो गया। अब तो ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि फिर जन्म न हो ; ऐसा नहीं कि जहाँ जिस जाति में जन्म हो, उसी के समर्थन में अपना जीवन का समय खो दिया। यह तो धर्मशाल है। यहाँ आकर अपना मुख्य काम बनाना चाहिये, न कि धर्मशाले का ही समर्थन करते रहो। मनुष्य जीवन में जो मन भगवान में लगाने की चीज है, उससे अनाचार - पापाचार करना उचित नहीं।

X X X

१०६

विचार पूर्वक प्रवृत्ति बनाने से ही

मन सुमार्ग की ओर जाता है

*

अखंड ब्रह्माँड - नायक आनन्द - कंद सच्चिदानन्द भगवान् वेद वेद्य हैं। वेद - मार्ग द्वारा ही उनको जाना जा सकता है। वेद अपौरुषेय है, दिव्य दृष्टि के दाता हैं। भगवान् के दिव्य स्वरूप को देखने के लिये दिव्य दृष्टि ही अपेक्षित है। चर्म - चक्षुओं से भगवान के उस स्वरूप के दर्शन नहीं हो सकते हैं। भगवान ने गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुये कहा है :-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

वह दिव्य दृष्टि प्राप्त करने की चेष्टा करना ही पुरुषार्थ है। इसी में मनुष्य जन्म की सफलता है।

भौतिक पदार्थ ही चर्म - चक्षुओं से देखे जा सकते हैं। फिर भी भिन्न - भिन्न पदार्थों के लिये भी भिन्न - भिन्न दृष्टि होती है। सभी भौतिक पदार्थ एक दृष्टि से नहीं देखे जा सकते। उदाहरण के लिये सोचि - माता - पिता, भाई - बहिन, स्त्री इत्यादि सभी भौतिक शरीरधारी हैं। क्या इन सब को एक दृष्टि से देखा जाता है? माता को और दृष्टि से देखते हैं, बहिन को

और तथा स्त्री को और ही दृष्टि से देखा जाता है। पुनः भिन्न - भिन्न दर्शक के अधिकारानुसार एक ही वस्तु भिन्न दृष्टि से देखी जाती है।

इसी भाँति उपासना भी अधिकार - भेद से पृथक - पृथक है, वेद का मूल प्रँणव है। परन्तु सब को प्रँणव के उच्चारण का अधिकार नहीं है। प्रँणव तो शुद्ध व्रह्म है। केवल एक सन्यासी जो सभी भौतिक पदार्थों के रागों को त्यागकर ही सम्यकन्यासी होता है, उसके साथ कोई राग - द्वेष सांसारिक बंधन नहीं रह जाता। वह तो केवल निताँत एक ही रह जाता है। अतः उसे ही शुद्ध प्रँणव के उच्चारण का अधिकार है।

गृहस्थ जिसका राग घर - गृहस्थी, स्त्री - पुत्रादि में बना हुआ है, उसे प्रँणव के जपने का अधिकार नहीं। क्योंकि प्रँणव के जपने का फल भी तो वही होना चाहिये जो वह है यानी माया रहित विशुद्ध ब्रह्म केवल एक सच्चिदानन्द स्वरूप। गृहस्थ के लिये प्रँणव का जप सुफलप्रद नहीं होता, नाश अमंगल - कारक होता है। अतः गृहस्थों के लिये यही विधान है कि वे केवल प्रँणव का उच्चारण (जप) न करके किसी न किसी मंत्र के साथ जोड़ कर उच्चारण करें। प्रँणव को मंत्र के आदि में जोड़ कर मंत्र का जप करें - ऐसा न करना अनधिकार चेष्टा है। अनधि - कार चेष्टा का प्रभाव हृदय पर भी नहीं पड़ता, सब परिश्रम विफल हो जाता है।

(२१३)

प्रायः लोग यही कहते हैं कि मन की चण्चलता नहीं मिटती, मन स्थिर नहीं होता। पर मन की चंचलता तो विधि - विधान द्वारा नित्य नैमित्तिक कर्मों द्वारा ही दूर हो सकती है। उसे तो करते नहीं, एकदम ध्यानस्थ हो जाने की कल्पना करते हैं, सो कैसे सफल हो।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध में ही तो मन जाता है। मन तो इनके पीछे दौड़ते - दौड़ते मलिन हो रहा है, शुद्धता की ओर जा कैसे सकता है। मन को वृत्ति तो श्वान - वृत्ति बन रही है। सुख की चाह में इधर - उधर भटकता हुआ कभी रूप के पीछे, कभी गंध के पीछे, कभी स्पर्श के पीछे, कभी शब्द के पीछे, श्वानवत् मन दौड़ा करता है, परन्तु

स्थिर नहीं हो पाता। वह तो निरंतर विषयाराम बना हुआ है, आत्माराम कैसे बने। विषयों से हट कर यदि आत्मा की ओर झुकाव हो जावे तो आत्माराम बने, विषयाराम न बने। जिसका मन भगवत् दर्शन् की ओर लग गया है, वह सिनेमा देखने नहीं दौड़ेगा। जो भगवान के रूप का प्रेमी बन गया है, वह किसी सांसारिक रूप की ओर आँख नहीं उठायेगा। जो भगवत् - चरण के स्पर्श का अक्षय सुख अनुभव करने लगता है, वह भौतिक स्पर्श की इच्छा नहीं करता।

इसी प्रकार रूप - रस - गंध - स्पर्श शब्द के पीछे श्वानवत् दौड़ने वाले मन को भगवान् के किसी विग्रह के रूप की ओर

लगाओ। उन्की सेवा से स्पर्श - सुख अनुभव करने का स्वभाव डालो। भगवान् के प्रति सुगंधित द्रव्य अर्पण कर प्रसाद रूप से उन्हें ग्रहण करना सीखो।

x x x

१०७

जो अपना लक्ष्य भूल गया,

वह पथ - भ्रष्ट हो ही जायगा

*

अनन्तान्दमय, सर्वशक्तिमान, ज्ञानस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति ही मनुष्य - जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। अपने इस उत्तमोत्तम लक्ष्य का जिसे सदा स्मरण रहता है और जो इस लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिये वेद - शास्त्र के बताये हुए मार्ग का अनुसरण करता है अर्थात् जो अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की हलचल शास्त्रानुसार रखते हुये अपना जीवन धर्मानुकूल व्यतीत करता है, वही वास्तव में पुरुषार्थ - शील एवं भाग्यशाली है। ऐसे सत्पुरुषार्थवान् पुरुष की सब मनोकामनायें पूरी होते हुये उसे लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होती है, इसमें सन्देह नहीं।

जो अपने जीवन का चरम - लक्ष्य बनाया जाय उसके लिये उसी विषय के किसी अच्छे विशेषज्ञ को श्रद्धा - पूर्वक

अपना मार्ग - प्रदर्शक बनाना चाहिये, जिससे कि उस विषय में उसके अनुभवों का तुम्हें लाभ हो सके। दूसरी बात यह है कि तुम्हारे जीवन की प्रवृत्ति ऐसी रहनी चाहिये कि जो तुम्हारे लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में बाधक न होकर साधक हो।

हर समय सतर्क रहो कि कहीं ऐसा न हो कि अपने लक्ष्य - प्राप्ति के मार्ग से इधर - उधर भटक जाओ। मत भूलो कि व्यवहार ही परमार्थ का मार्ग है। व्यवहार यदि अपने अधिकारानुसार शास्त्रोक्त है, तो वही तुम्हें लक्ष्य - प्राप्ति में आगे बड़ायेगा। यदि मन विषयों के वशीभूत होकर व्यवहार में यथेच्छा - चरण में आया और शास्त्र - मर्यादाओं का उल्लंघन हुआ, तो व्यवहार ही लक्ष्य - पथ से तुम्हें हटाकर पारमार्थिक - लक्ष्य के विपरीत अनर्थ सम्पादन की ओर आगे बड़ायेगा।

इसलिये सदा अपने परम लक्ष्य का स्मरण करते रहकर उसकी प्राप्ति के लिये अनुभवी गुरु का पथ - प्रदर्शन और सतर्क होकर गुरुपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है।

X X X

४३ [१०८]

जो भगवान् की और झुका

उसे किसी वस्तु की कमी नहीं

*

सत्संङ्ग करने से उचितानुचित, पाप - पुन्य, अधर्म और कर्त्तव्य का बोध होता है, विवेक उत्पन्न होता है। इसलिये सत्संग करने वाला अधर्म से बचता है और धर्म में प्रवृत्त होता है। पाप से बचकर वह पुन्य - कर्म करता है। सिद्धाँत है कि 'धर्मेण पापमपनुदति' धर्म करने से पाप नष्ट होता है। इस प्रकार सत्संग से पाप का नाश होता है।

सत्संग में बैठने से, भगवत्सम्बन्धी वार्ता श्रवण करने से, स्वाभाविक ही आन्तरिक दुख - उद्वेग आदि मनुष्य के हृदय को दहने वाला ताप शान्त होता है। सत्संग करने वाले के अन्तः - करण में स्वाभाविक ही शान्ति रहती है।

सत्संग के द्वारा मनुष्य सर्वशक्तिमान सर्व समर्थ भगवान् की ओर झुकता है। जो भगवान् की ओर झुका है उसके लिये कभी भी किसी वस्तु की कमी नहीं रह जाती, उसकी सारी दीनता - दरिद्रता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार सन्त - समागम से पाप, ताप और दैन्य सभी का निवारण होता है।

शुभमस्तुनित्यम्

X X X

*